क्रांतिबीज
मैं तो बो चला देखना तुम कि बीज बीज न रह जाए

(ओशो द्वारा सौ. मदन कुंवर पारख, चांदा को लिखे गए 120 अमृत पत्रों का संकलन)

अनुक्रम

001/ त्याग- नश्वर का त्याग शाश्वत की प्राप्ति!.................................7 002/ मृत्यु है ही नहीं..7 003/ सत्य को शब्द देना संभव नहीं...8 004/ अभय-चेतना ही ईश्वरानुभूति...8 005/ सम्यक-जागरण ही जीवन विजय..9 006/ मन के छिद्र बंद करो..10 007/ सपने नहीं, सत्य देखें..10 008/ ‘मैं’ के भीतर झांको ब्रह्म मिलेगा..11 009/ मिट्टी के दीयों पर विश्वास छोड़ो और चिन्मय ज्योति खोजो..........11 010/ धार्मिकता भेद से अभेद में छलांग..12 011/ स्वयं को जानना ही प्रभु को पाना है..12 012/ शांति के लिए अभ्यास नहीं सद्भाव चाहिए.....................................13 013/ सत्य लाया नहीं जाता, स्वयं आता है..14 014/ तुम्हारी निद्रा तोड़ना चाहता हूं...15 015/ उसे देखो जो सबको देखता है!..16 016/ स्वयं को जाने बिना ज्ञान की प्यास नहीं मिटती..........................16 017/ पूर्ण मौन ही एक मात्र प्रार्थना..17 018/ जीवन पाने के लिए स्वयं को मिटाना होगा......................................17 019/ सागर को पाना नहीं, पीना है..18 020/ दुख-विस्मरण से दुख नहीं मिटता...19 021/ दीपक की लौ की भांति ही मनुष्य की चेतना है................................19 022/ संयम और संगीत ही साधना है...20 023/ जहां विचार नहीं, वहां मन नहीं!...21 024/ अमूर्त के दर्शन करने हैं, तो मूर्त को अग्नि दो........................21 025/ प्रार्थना...22 026/ शून्य होना ही एकमात्र पुरुषार्थ है!...22 027/ प्रेम-मृत्यु ही जीवन है!...23 028/ जीवन की मृत्यु नहीं और मृत का जीवन नहीं...................................23 029/ द्वंद्व में नहीं, द्वंद्व को देखने वाले ‘ज्ञान’ में स्थिर हों!24

1

030/ शून्यता में ही सागर उतर कर पूर्ण करता है!................................25 031/ साधना का साध्य...25 032/ ‘मैं’ अपरिवर्तनीय है!..26 033/ आत्मज्ञान ही मोक्ष है...26 034/ जड़ से हटते ही पौधे सूख जाते हैं!..27 035/ जगत के रहस्य का ज्ञान ही मुक्ति है..28 036/ संन्यास लाया नहीं, पाया जाता है...28 037/ ज्ञान...28 038/ समाधि...29 039/ प्रेम और प्रतीक्षा..30 040/ मन और शांति...30 041/ जीवन एक बांसुरी...31 042/ ज्ञान और शील...32 043/ आनंद और दुख...32 044/ दिव्य प्यास..33 045/ प्रकृति ही परमात्मा..33 046/ ईश्वर हमारा ‘स्व’...34 047/ स्वयं में डूबो...35 048/ उधार ज्ञान..35 049/ शून्य ही हमारा स्वरूप है..36 050/ मैं का बोध...37 051/ भागवत-चैतन्य का विज्ञान है--धर्म..38 052/ चेतना को पहचानो...38 053/ मृत्यु और जीवन...39 054/ विजय पथ..39 055/ भय..40 056/ शून्य के लिए ही मेरा आमंत्रण...41 057/ आंखें खोलो, स्वर्ग का राज तुम्हारा है......................................42 058/ समयातीत होना आनंद है...42 059/ समाधि...43 060/ मनुष्य-मनुष्यता..43 061/ विवेक, बुद्धि और वृत्ति..45 062/ मौन का संगीत...45 063/ स्व-ज्ञान ही जीवन है..46 064/ धारणा-शून्य मन ही जागृति..46 065/ मोक्ष की प्रवृत्ति नहीं...47

066/ सम्यक दर्शन..48 067/ स्वयं से प्रेम करो...48 068/ सत्य का स्वरूप...49 069/ मैं कौन हूं?...50 070/ विकारों का त्याग...50 071/ जीने का आनंद...51 072/ ईश्वर क्या है?..51 073/ शांति...52 074/ मनुष्य के साथ क्या हो गया है?...52 075/ आत्मा कालातीत है...53 076/ साधुता क्या है?..54 077/ मन के साक्षी बनो..55 078/ धूल का परदा...55 079/ चित्त-वृत्ति निरोध..56 080/ धर्म अमूर्च्छा है..56 081/ शून्य-स्मरण..57 082/ आंख बंद कर तो देखो...57 083/ ‘पर’ में ‘स्व’ के दर्शन..58 084/ केवल आनंद ही नित्य है..58 085/ दृष्टि को भीतर ले चलना है...59 086/ नास्तिक होना, अधार्मिक होना नहीं!...59 087/ मुक्ति के लिए स्वयं को खोना होगा...60 088/ ईश्वर की खोज...61 089/ पांचवां आर्य सत्य..61 090/ तीन बातें..62 091/ ज्ञान, बुद्धि और स्मृति..62 092/ शरीर-दमन अध्यात्म नहीं है..63 093/ मोक्ष...64 094/ पूर्ण होने की इच्छा...64 095/ योग का सार सूत्र..65 096/ स्व में होना ही दुख-निरोध है..65 097/ जहां मृत्यु जीवन है...66 098/ स्व-अज्ञान मूर्च्छा है...66 099/ मन आनंदोन्मुखी है..67 100/ धारणामुक्त ईश्वर...68 101/ अज्ञात और अदृश्य जड़ें...68

102/ प्रौढ़ता क्या है?..69 103/ तथाकथित साधना..69 104/ ‘फिर मुक्ति क्यों खोजते हो?’...70 105/ सत्य अखंड है...71 106/ योग है आत्मस्मरण...71 107/ कौन हो तुम?...72 108/ स्वयं के शून्य से भागना अज्ञान है...72 109/ ‘जीवन का आदर्श क्या है?’..73 110/ बाधाएं कोई हैं, तो स्वयं में हैं..73 111/ समाधि सत्य का द्वार है..74 112/ शरीर-मन एक सराय है...75 113/ जीवन क्या है?...75 114/ ‘अहं ब्रह्मास्मि-मैं ही ब्रह्म हूं’..76 115/ विवाद या संवाद...76 116/ स्वप्न या द्रष्टा..77 117/ ‘मैं’ संसार है, ‘मैं’ का अभाव संन्यास है.....................................77 118/ ‘मूर्तियों को नहीं उस मन को फेंको, जो कि मूर्तियों का निर्माता है’...78 119/ धर्म क्या है?...79 120/ सत्य एक है...80

आमुख
मैं भी एक किसान हूं, और मैंने भी कुछ बीज बोए थे, और फिर उनमें अंकुर
आए और अब फूल लग गए हैं। उन फूलों की सुगंध से मेरा सारा जीवन भर गया है। उस सुगंध के कारण अब मैं किसी और ही लोक में हूं। उस सुगंध ने मुझे नया जन्म दिया है, और अब जो मैं साधारण आंखों से दिखाई पड़ता हूं, वही नहीं हूं। अदृश्य और अज्ञात ने अपने बंद द्वार खोल दिए हैं, और मैं उस जगत को देख रहा हूं, जो आंखों से नहीं देखा जाता; और उस संगीत को सुन रहा हूं, जिसे सुनने में कान समर्थ नहीं होते हैं। और इस भांति जो मैंने जाना है और पाया है, वह वैसे ही मुझसे बहने और प्रवाहित होने को उत्सुक है, जैसे पहाड़ों के झरने सागर की ओर प्रवाहित होते और भागते हैं।
स्मरण रहे कि बदलियां जब पानी से भर जाती हैं, तो उन्हें बरसना पड़ता है। और फूल जब सुवास से भर जाते हैं, तो उन्हें हवाओं को अपनी सुगंध लुटा देनी होती है। और जब कोई दीया जलता है, तो आलोक उससे बहता ही है।
ऐसा ही कुछ हुआ है। और कुछ क्रांतिबीज हवाएं मुझसे लिए जा रही हैं। मुझे कुछ ज्ञात नहीं कि वे किन खेतों में पहुंचेंगे, और कौन उन्हें सम्हालेगा। मैं तो इतना ही जानता हूं, उनसे ही मुझे जीवन के, अमृत के, और प्रभु के फूल उपलब्ध हुए हैं, और जिस खेत में भी वे पड़ेंगे, वहीं की मिट्टी अमृत के फूलों में परिणत हो जाएगी।

मृत्यु में अमृत छिपा है, और मृत्यु में जीवन--वैसे ही जैसे मिट्टी में फूल छिपे होते हैं। पर मिट्टी की संभावना, फूलों के बीजों के अभाव में कभी वास्तविकता में परिणत नहीं हो सकती है। बीज उसे प्रकट कर देते हैं, जो अप्रकट था, और उसे अभिव्यक्त कर देते हैं, जो कि प्रच्छन्न था।
जो भी मेरे पास है, जो भी मैं हूं, उसे अमृत के, दिव्य के, भागवत चैतन्य
के बीजों के रूप में बांट देना चाहता हूं। ज्ञान से जो पाया जाता है, प्रेम उसे लुटा देता है। ज्ञान से परमात्मा जाना जाता है, प्रेम से परमात्मा हुआ जाता है। ज्ञान साधना है, प्रेम सिद्धि है।
-ओशो

001/ त्याग- नश्वर का त्याग शाश्वत की प्राप्ति!

एक गांव में गया था। किसी ने कहा: धर्म त्याग है। त्याग बड़ी कठिन और कठोर साधना है।
मैं सुनता था तो एक स्मरण हो आया। छोटा था- बहुत बचपन की बात होगी। कुछ लोगों के साथ नदी-तट पर वन-भोज को गया था। नदी तो छोटी थी, पर रेत बहुत थी। और रेत में चमकीले रंगों-भरे पत्थर बहुत थे। मैं तो जैसे खजाना पा गया था। सांझ तक इतने पत्थर बीन लिये थे कि उन्हें साथ लाना असंभव था। चलते क्षण जब उन्हें छोड़ना पड़ा तो मेरी आंखें भीग गयी थीं। और साथ के लोगों की उन पत्थरों की ओर विरक्ति देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था। उस दिन वे मुझे बड़े त्यागी लगे थे।
आज सोचता हूं तो दिखता है कि पत्थरों को पत्थर जान लेने पर त्याग का कोई प्रश्न ही नहीं है।
अज्ञान भोग है। ज्ञान त्याग है।
त्याग क्रिया नहीं है। वह करना नहीं होता है। वह हो जाता है। वह ज्ञान
का सहज परिणाम है। भोग भी यांत्रिक है। वह भी कोई करता नहीं है। वह अज्ञान की सहज परिणति है।
फिर, त्याग के कठिन और कठोर होने की बात ही व्यर्थ है। एक तो वह क्रिया
ही नहीं है। क्रियाएं ही कठिन और कठोर हो सकती हैं। वह तो परिणाम है। फिर उसमें जो छूटता मालूम होता है, वह निर्मूल्य और जो पाया जाता है, वह अमूल्य होता है।
वस्तुतः त्याग जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि जो हम छोड़ते हैं, उससे बहुत को पा लेते हैं।
सच तो यह है कि हम केवल बंधनों को छोड़ते हैं और पाते हैं, मुक्ति।
छोड़ते हैं कौड़ियां और पाते हैं हीरे। छोड़ते हैं मृत्यु और पाते हैं अमृत।
छोड़ते हैं अंधेरा और पा लेते हैं प्रकाश-शाश्वत और अनंत।
इसलिए, त्याग कहाँ है? न-कुछ को छोड़कर सब-कुछ को पा लेना त्याग नहीं है!

002/ मृत्यु है ही नहीं

कल रात्रि कोई महायात्रा पर निकल गया है। उसके द्वार पर आज रुदन है।
ऐसे क्षणों में बचपन की एक स्मृति मन पर दुहर जाती है। पहली बार मरघट जाना हुआ था। चिता जल गई थी और लोग छोटे-छोटे झुंड बनाकर बातें कर रहे थे। गांव के एक कवि ने कहा था: ‘मैं मृत्यु से नहीं डरता हूं। मृत्यु तो मित्र है।’
यह बात तब से अनेक रूपों में अनेक लोगों से सुनी है। जो ऐसा कहते हैं, उनकी आंखों में भी देखा है और पाया है कि भय से ही ऐसी अभय की बातें निकलती हैं।
मृत्यु को अच्छे नाम देने से ही कुछ परिवर्तन नहीं हो जाता है। वस्तुतः डर मृत्यु का नहीं है, डर अपरिचय का है। जो अज्ञात है, वह भय पैदा करता है। मृत्यु से परिचित होना जरूरी है। परिचय अभय में ले आता है। क्यों? क्योंकि परिचय से ज्ञात होता है कि ‘जो है’, उसकी मृत्यु नहीं है।
जिस व्यक्तित्व को हमने अपना ‘मैं’ जाना है, वही टूटता है, उसकी ही मृत्यु है। वह है नहीं, इसलिए टूट जाता है। वह केवल सांयोगिक है: कुछ तत्वों का जोड़ है, जोड़ खुलते ही बिखर जाता है। यही है मृत्यु। और इसलिए व्यक्तित्व के साथ स्वरूप को एक जानना जब तक है, तब तक मृत्यु है।
व्यक्तित्व से गहरे उतरें, स्वरूप पर पहुंचे और अमृत उपलब्ध हो जाता है।
इस यात्रा का- व्यक्तित्व से स्वरूप तक की यात्रा का मार्ग धर्म है।
समाधि में, मृत्यु से परिचय हो जाता है।

सूरज उगते ही जैसे अंधेरा न हो जाता है, वैसे ही समाधि उपलब्ध होते ही मृत्यु न हो जाती है।
मृत्यु न तो शत्रु है, न मित्र है। मृत्यु है ही नहीं। न उससे भय करना है, न उससे अभय होना है। केवल उसे जानना है। उसका अज्ञान भय है, उसका ज्ञान अभय है।

003/ सत्य को शब्द देना संभव नहीं

एक दिन मैं मंदिर गया था। पूजा हो रही थी। मूर्तियों के सामने सिर झुकाए जा रहे थे। एक वृद्ध साथ थे, बोलेः ‘धर्म में लोगों को अब श्रद्धा नहीं रही। मंदिर में भी कम ही लोग दिखाई पड़ते हैं।’
मैंने कहाः ‘मंदिर में धर्म कहाँ है?’
मनुष्य भी कैसा आत्मवंचक हैः अपने ही हाथों से बनायी मूर्तियों को भगवान समझ स्वयं को धोखा दे लेता है! मन से रचित शास्त्रों को सत्य समझकर तृप्ति कर लेता है!
मनुष्य के हाथों और मनुष्य के मन से जो भी रचित है, वह धर्म नहीं है। मंदिरों में बैठी मूर्तियां भगवान की नहीं, मनुष्य की ही हैं। शास्त्रों में लिखा हुआ मनुष्य की अभिलाषाओं और विचारणाओं का ही प्रतिफलन है- सत्य का अंतर्दर्शन नहीं। सत्य को तो शब्द देना संभव नहीं है।
सत्य की कोई मूर्ति संभव नहीं है; क्योंकि, वह असीम, अनन्त और अमूर्त है। न उसका कोई रूप है, न धारणा, न नाम। आकार देते ही वह अनुपस्थित हो जाता है।
उसे पाने के लिए सब मूर्तियां और सब मूर्त धारणाएं छोड़ देनी पड़ती हैं। स्व-निर्मित कल्पनाओं के सारे जाल तोड़ देने पड़ते हैं। वह असृष्ट तब प्रकट होता है, जब मनुष्य की चेतना उसकी मनःसृष्ट कारा से मुक्त हो जाती है।
वस्तुतः उसे पाने को मंदिर बनाने नहीं, विसर्जित करने होते हैं। मूर्तियां गढ़नी नहीं, विलीन करनी होती हैं। आकार के आग्रह खोने पड़ते हैं ताकि निराकार का आगमन हो सके। चित्त से मूर्त के हटते ही वह अमूर्त प्रकट हो जाता है। वह तो था ही। केवल मूर्तियों और मूर्त में दब गया था। जैसे किसी कक्ष में सामान भर देने से रिक्त स्थान दब जाता है। सामान हटाओ और वह जहाँ था, वहीं है। ऐसा ही है सत्य। मन को खाली करो और वह है।

004/ अभय-चेतना ही ईश्वरानुभूति

सुबह एक उपदेश सुना है। अनायास ही सुनने में आया है। एक साधु बोलते थे। मैं उस राह से निकला तो सुन पड़ा। वे बोल रहे थे कि धार्मिक होने का मार्ग ईश्वर-भीरु होना है। जो ईश्वर से डरता है, वही धार्मिक है। भय ही उस पर प्रेम लाता है। ‘भय बिनु होय न प्रीति।’ प्रेम भय के अभाव में असंभव है। साधारणतः जिन्हें धार्मिक कहा जाता है, वे शायद भय के कारण ही होते हैं। जिन्हें नैतिक कहा जता है, उनके आधार में भी भय होता है।
कांट ने कहा हैः ‘ईश्वर न हो, तो भी उसका मानना आवश्यक है।’ यह भी शायद इसलिए है कि उसका भय लोगों को शुभ बनाता है।
मैं इन बातों को सुनता हूँ, तो हँसें बिना नहीं रहा जाता है। इतनी भ्रांत और असत्य शायद और कोई बात नहीं हो सकती है।
धर्म का भय से कोई संबंध नहीं है। धर्म तो अभय से उत्पन्न होता है।
प्रेम भी भय के साथ असंभव है। भय प्रेम कैसे पैदा कर सकता है? उससे तो केवल प्रेम का अभिनय ही पैदा हो सकता है। ओर अभिनय के पीछे अप्रेम के अतिरिक्त और क्या होगा? प्रेम का भय से पैदा होना एक असंभावना है।

और, इसलिए वह धार्मिकता और नैतिकता जो भय पर आधारित होती है, सत्य नहीं मिथ्या है। वह आरोपण है, आत्मशक्ति का आरोहण नहीं। धर्म या प्रेम आरोपित नहीं किया जाता है। उसे तो जगाना होता है।
सत्य भय पर नहीं खड़ा होता है। वह सत्य के लिए आधार नहीं, विरोध ही है।
उसकी आधार-शिला तो अभय है।
धर्म और प्रेम के फूल अभय की भूमि में ही लगते हैं। और भय में जो लगा लिये जाते हैं, वे फूल नहीं, कागज के धोखे हैं।
ईश्वरानुभूति अभय में ही उपलब्ध होती है। या कि ठीक हो यदि कहें कि अभय-चेतना ही ईश्वरानुभूति है। जिस क्षण समस्त भय-ग्रंथियां चित्त से विसर्जित हो जाती हैं, उस क्षण जो होता है, वही सत्य-साक्षात है।

005/ सम्यक-जागरण ही जीवन विजय

दोपहर तप गयी है। पलाश के वृक्षों पर फूल अंगारों की तरह चमक रहे हैं।
एक सुनसान रास्ते से गुजरता हूँ। बांसों का घना झुरमुट है और उनकी छाया भली लगती है।
कोई परिचित चिड़िया गीत गाती है। उसके निमंत्रण को मान वहीं रुक जाता हूँ।
एक व्यक्ति साथ है। पूछ रहे हैंः ‘क्रोध को कैसे जीतें, काम को कैसे जीतें?’ यह बात तो अब रोज-रोज पूछी जाती है। इसके पूछने में ही भूल है, यही उनसे कहता हूँ।
समस्या जीतने की है ही नहीं। समस्या मात्र जानने की है। हम न क्रोध को जानते हैं और न काम को जानते हैं। यह अज्ञान ही हमारी पराजय है।
जानना जीतना हो जाता है। क्रोध होता है, काम होता है, तब हम नहीं होते हैं। होश नहीं होता है, इसलिए हम नहीं होते हैं। इस मूर्च्छा में जो होता है, वह बिल्कुल यांत्रिक है। मूर्च्छा टूटते ही पछतावा आता है, पर वह व्यर्थ है; क्योंकि जो पछता रहा है, वह काम के पकड़ते ही पुनः सो जाने को है। वह न सो पाए-अमूर्च्छा बनी रहे, जागृति, सम्यक-स्मृति बनी रहे, तो पाया जाता है कि न क्रोध है, न काम है। यांत्रिकता टूट जाती है और फिर किसी को जीतना नहीं पड़ता है। दुशमन पाये ही नहीं जाते हैं।
एक प्रतीक कथा से समझें। अंधेरे में कोई रस्सी साँप दिखती है। कुछ उसे देखकर भागते हैं, कुछ लड़ने की तैयारी करते हैं। दोनों ही भूल में हैं क्योंकि दोनों ही उसे स्वीकार कर लेते हैं। कोई निकट जाता है और पाता है कि साँप है ही नहीं। उसे कुछ करना नहीं होता, केवल निकट भर जाना होता है। मनुष्य को अपने निकट भर जाना है। मनुष्य में जो भी है, सबसे उसे परिचित होना है। किसी से लड़ना नहीं है और मैं कहता हूँ कि बिना लड़े ही विजय घर आ जाती है।
स्व-चित्त के प्रति सम्यक जागरण ही जीवन-विजय का सूत्र है।

006/ मन के छिद्र बंद करो

रात्रि बीत गयी है, और खेतों में सुबह का सूरज फैल रहा है। एक छोटा-सा नाला अभी-अभी पार हुआ है। गाड़ी की आवाज सुन, चांदनी के फूलों से सफेद बगुलों की एक पंक्ति सूरज की ओर उड़ गयी है।
फिर कुछ हुआ है और गाड़ी रुक गयी है। इस निर्जन में उसका रुकना भला लगा है। मेरे अपरिचित सहयात्री भी उठ आये हैं। रात्रि किसी स्टेशन पर उनका आना हुआ था। शायद मुझे संन्यासी समझ कर प्रणाम किया है। कुछ पूछने की उत्सुकता उनकी आंखों में है। आखिर वे बोल रहे हैंः ‘अगर कोई बाधा आपको न हो तो मैं एक बात पूछना चाहता हूं। मैं प्रभु में उत्सुक हूं और उसे पाने का

बहुत प्रयास किया है, पर कुछ परिणाम नहीं निकला। क्या प्रभु मुझ पर कृपालु नहीं है?’
मैंने कहाः ‘कल मैं एक बगीचे में गया था। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास लगी थी। उसने बाल्टी कुएं में डाली। कुआं कुछ गहरा था। बाल्टी खींचने में श्रम पड़ा पर बाल्टी जब लौटी तो खाली थी। सब हंसने लगे।’
‘मुझे लगाः यह बाल्टी तो मनुष्य के मन जैसी है। उसमें छेद ही छेद थे। बाल्टी नाममात्र को थी, बस छेद ही छेद थे। पानी भरा था, पर सब बह गया। ऐसे ही मन भी हमारा छेद ही छेद है। इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेंको, वह खाली ही वापस लौट आता है।’
‘मित्र, पहले बाल्टी ठीक कर लें फिर पानी खींच लेना एकदम आसान है। हां, छेद वाली बाल्टी से तपश्चर्या तो खूब होगी पर तृप्ति नहीं हो सकती है।’ ‘और स्मरण रहे कि प्रभु न कृपालु हैं, न अकृपालु। बस आपकी बाल्टी भर ठीक होनी चाहिए। कुआं तो हमेशा पानी देने को राजी होता है। उसकी ओर से कभी कोई इनकार नहीं है।’

007/ सपने नहीं, सत्य देखें

एक दिन नदी के किनारे खड़ा था: देखा, कागज की एक नाव पानी में डूब गयी है। कल कुछ रेत के घरौंदे बच्चों ने बनाये थे, वे भी मिट गये हैं।
रोज नावें डूबती हैं और रोज घरौंदे टूट जाते हैं।
एक महिला आयी थीं। सपने उनके पूरे नहीं हुए हैं। जीवन से मन उनका उचाट है।
आत्महत्या के विचार ने उन्हें पकड़ लिया है। आंखों गड्ढों में धंस गयी हैं और सब व्यर्थ मालूम होता है।
मैंने कहा: सपने किसके पूरे होते हैं? सब सपने अंततः दुख देते हैं, कारण, कागज की नावें बहें भी तो कितनी दूर बह सकती है? इसमें भूल सपने की नहीं है, वे तो स्वभाव से ही दुष्पूर हैं। भूल हमारी है। जो सपना देखता है, वह सोया है। जो सोया है, उसकी कोई उपलब्धि वास्तविक नहीं है। जागते ही सब पाया, न पाया हो जाने को है।
सपने नहीं, सत्य देखें। जो है, उसे देखें। उसे देखने से मुक्ति आती है। वही नाव सच्ची है-वही जीवन की परिपूर्णता तक ले जाती है।
स्वपनों में मृत्यु है। सत्य में जीवन है। स्वपन यानी निद्रा। सत्य यानी जागृति। जागें और अपने को पहचाने। जब तक स्वप्न में मन है, तब तक जो स्वप्न को देख रहा है, वह नहीं दिखता है। वही सत्य है। वही है। उसे पाते ही डूबी नावों और गिरे घरौंदों पर केवल हंसी आती है।

008/ ‘मैं’ के भीतर झांको ब्रह्म मिलेगा

एक सूफी गीत है-प्रेयसी के द्वार पर किसी ने दस्तक दी। भीतर से आवाज आयी, ‘कौन है?’ जो द्वार के बाहर खड़ा था, उसने कहाः ‘मैं हूं।’ प्रत्युत्तर में उसे सुनाई पड़ाः ‘यह गृह ‘मैं’ और ‘तू’-दो को नहीं संभाल सकता है।’
और, बंद द्वार बंद ही रहा। प्रेमी वन में चला गया। उसने तप किया, उपवास किये, प्रार्थनाएं कीं। बहुत सालों के बाद वह लौटा और पुनः उसने वे ही द्वार खटखटाये। दुबारा वही प्रश्नः ‘बाहर कौन है?’
पर इस बार द्वार खुल गए, क्योंकि उसका उत्तर दूसरा था। उसने कहाः ‘तू
ही है।’
यह उत्तर कि ‘तू ही है’ समस्त धर्म का सार है। जीवन के अनंत-असीम प्रवाह पर ‘मैं’ की गांठ ही बंधन है। ‘मैं’ व्यक्ति को सत्ता से तोड़ देता है। ‘मैं’ का बुदबुदा सत्ता-प्रवाह से अपने को भिन्न समझ बैठता है। जबकि बुदबुदे की अपनी कोई सत्ता नहीं है। उसका कोई केंद्र और अपना जीवन नहीं

है। वह सागर ही है। सागर ही उसका जीवन है। सागर में होकर उसका होना है। सागर से पृथक सत्ता का बोध ही अज्ञान है। बुदबुदे के भीतर झांको तो सागर मिल जाता है। ‘मैं’ के भीतर झांको तो ब्रह्म मिल जाता है।
‘मैं’ जहां नहीं है, वहां वस्तुतः ‘तू’ भी नहीं है। वहां केवल ‘होना’ मात्र है। केवल अस्तित्व है, शुद्ध सत्ता है। इस शुद्ध सत्ता में जागना निर्वाण है।

009/ मिट्टी के दीयों पर विश्वास छोड़ो और चिन्मय ज्योति खोजो

एक मिट्टी का दिया जल रहा था, वह भी बुझ गया है। हवा का एक झोंका आया और उसे ले गया। मिट्टी के दीयों का विश्वास भी क्या? और उन ज्योतियों का साथ भी कितना, जिन्हें हवाएं बुझा सकती हैं?
अंधेरे के सागर में डूब गये हैं। एक युवक बैठे हैं। अंधेरे से उन्हें बहुत भय लग रहा है। वे कह रहे हैं कि अंधेरे में उनके प्राण कंप जाते हैं और सांसे लेना भी मुश्किल हो जाता है।
मैं उनसे कह रहा हूं कि जगत में अंधेरा ही अंधेरा है। और ऐसी कोई भी ज्योति जगत के पास नहीं है कि अंधेरे को नष्ट कर दे। जो भी ज्योतियां हैं, वे देर-अबेर स्वयं ही अंधेरे में डूब जाती हैं। वे आती हैं और चली जाती हैं, पर अंधेरा वहीं का वहीं बना रहता है। जगत का अंधकार तो शाश्वत है और उसकी ज्योतियों पर जो विश्वास करते हैं, वे नासमझ हैं; क्योंकि वे ज्योतियां वास्तविक नहीं हैं, और सब अंततः अंधेरे से पराजित हो जाती हैं। पर एक और लोक भी है। जगत से भिन्न एक और जगत भी है। जगत अंधकार है, तो
वह लोक प्रकाश ही प्रकाश है। जगत में प्रकाश क्षणिक और सामयिक है और अंधकार शाश्वत है, तो उस लोक में अंधकार क्षणिक और सामयिक है और आलोक शाश्वत है।
एक और भी आश्चर्य है कि अंधकार का लोक हमसे दूर और प्रकाश का लोक बहुत निकट है।
अंधकार बाहर है, आलोक भीतर है।
और स्मरण रहे कि जब तक अंतस के आलोक में जागरण नहीं होता है, तब तक कोई ज्योति अभय नहीं दे सकती है। मिट्टी के मृण्मय दीयों पर विश्वास छोड़ो और चिन्मय ज्योति को खोजो। उससे ही अभय और आनंद और वह आलोक मिलता है जिसे कि कोई छीन नहीं सकता है। और वही अपना है जो कि छीना न जा सके, और वही अपना है जो कि बाहर नहीं है।
आंख के बाहर अंधकार है पर आंख के भीतर तो देखो कि वहां क्या है?
यदि वहा भी अंधकार होता तो अंधकार का बोध नहीं हो सकता था। जो अंधकार
को जानता है, वह अंधकार नहीं हो सकता।
जो आलोक की आकांक्षा करता है, वह कैसे अंधकार हो सकता है? वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की आकांक्षा है। वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की अभिप्सा है। आलोक ही केवल आलोक के लिए प्यासा हो सकता है। जहां से प्यास आती है, वहीं खोजो-उसी बिंदु को लक्ष्य बनाओ तो पाओगे कि जिसकी प्यास है, वह वहीं छिपा हुआ है।

010/ धार्मिकता भेद से अभेद में छलांग

मैं ईश्वर-भीरु नहीं हूँ। भय ईश्वर तक नहीं ले जाता है। उसे पाने की भूमिका अभय है।
मैं किसी अर्थ में श्रद्धालु भी नहीं हूँ। श्रद्धा मात्र अंधी होती है। और अंधापन परम सत्य तक कैसे ले जा सकता है?
मैं किसी धर्म का अनुयायी भी नहीं हूँ। क्योंकि धर्म को विशेषणों में बांटना संभव नहीं है। वह एक और अविभक्त है।

कल जब मैंने यह कहा तो किसी ने पूछाः ‘फिर क्या आप नास्तिक हैं?’
मै न नास्तिक हूँ न आस्तिक ही हूँ। वे भेद सतही और बौद्धिक हैं। सत्ता
से उनका कोई संबंध नहीं है। सत्ता ‘है’ और ‘न है’, में विभक्त नहीं है। भेद मन का है। इसलिए नास्तिकता और आस्तिकता दोनों मानसिक हैं। आत्मिक को वे नहीं पहुंच पाती हैं। आत्मिक विधेय और नकार दोनों का अतिक्रमण कर जाता है।
‘जो है’ वह विधेय और नकार के अतीत है। या फिर वहां दोनों एक हैं और उनमें कोई भेद-रेखा नहीं है। बुद्धि से स्वीकार की गयी किसी भी धारणा की वहाँ कोई गति नहीं है।
वस्तुतः आस्तिक को आस्तिकता छोड़नी होती है और नास्तिक को नास्तिकता,
तब कहीं वे सत्य में प्रवेश कर पाते हैं। वे दोनों ही बुद्धि के आग्रह हैं। आग्रह आरोपण हैं। सत्य कैसा है, यह निर्णय नहीं करना होता है; वरन अपने को खोलते ही वह जैसा है, उसका दर्शन हो जाता है।
यह स्मरण रखें कि सत्य का निर्णय नहीं, दर्शन करना होता है। जो सब बौद्धिक निर्णय छोड़ देता है, जो सब तार्किक धारणाएं छोड़ देता है, जो समस्त मानसिक आग्रह और अनुमान छोड़ देता है, वह उस निर्दोष चित्त-स्थिति में सत्य के प्रति अपने के खोल रहा है जैसे फूल प्रकाश के प्रति अपने को खोलते हैं।
इस खोलने में दर्शन की घटना संभव होती है।
इसलिए, जो न आस्तिक है न नास्तिक है, उसे मैं धार्मिक कहता हूँ।
धार्मिकता भेद से अभेद में छलांग है।
विचार जहाँ नहीं, निर्विचार है; विकल्प जहाँ नहीं, निर्विकल्प है; शब्द जहाँ नहीं, शून्य है- वहाँ धर्म में प्रवेश है।

011/ स्वयं को जानना ही प्रभु को पाना है

रात्रि में घूमने निकला था। गाँव का ऊबड़-खाबड़ रास्ता था। साथ एक साधु थे। उन्होंने बहुत यात्रा की थी। शायद ही कोई तीर्थ था, जहाँ वे नहीं हो आये थे। प्रभु को पाने का वे मार्ग खोज रहे थे।
उस रात्रि उन्होंने मुझ से भी पूछा थाः ‘प्रभु को पाने का मार्ग क्या है?’
यह प्रश्न उन्होंने औरों से भी पूछा था। मार्ग भी धीरे-धीरे उन्हें बहुत ज्ञात हो गए थे। पर प्रभु से जो दूरी थी, वह उतनी ही बनी थी। ऐसा भी नहीं था कि इन मार्गो पर वे चले नहीं थे। यथाशक्ति प्रयास भी किया था। पर हाथ आया था केवल चलना ही। पहुंचना नहीं हुआ था। पर अभी मार्गों से ऊबे नहीं थे और नये की तलाश जारी थी।
जो मैं स्वयं हूँ, उसे पाने का कोई मार्ग नहीं है। मार्ग ‘पर’ को और ‘दूर’ को पाने के लिए होते हैं। जो निकट है; निकट ही नहीं, जो मैं ही हूँ-वह मार्ग से नहीं मिलता है। मार्ग के योग्य वहाँ अंतराल ही नहीं है।
फिर पाना उसे होता है, जिसे खोया हो। प्रभु को क्या खोया जा सकता है?
जो खोया जा सके, वह स्वरूप नहीं हो सकता है।
वह केवल विस्मृत है।
इसलिए कहीं जाना नहीं है। केवल स्मरण करना है। कुछ करना नहीं केवल जानना है।
और, जानना ही पहुंचना है। जानना है कि यह मैं कौन हूँ? ओर यह ज्ञान ही प्रभु की उपलब्धि है।
एक दिन जब सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, और कोई भी मार्ग कहीं ले जाता प्रतीत नहीं होता है, तब दिखता है कि जो भी मैं कर सकता हूँ, वह सत्य तक नहीं ले जाएगा। कोई क्रिया ‘मैं’ के रहस्य को नहीं खोलेगी, क्योंकि क्रिया मात्र बाहर ले जाती है।
कोई क्रिया सत्ता तक नहीं लाती है। जहाँ क्रिया का अभाव है, वहाँ सत्ता प्रकट होती है।
कोई क्रिया उसे नहीं देगी, क्योंकि वह क्रियाओं के भी पूर्व है।

कोई मार्ग ‘वहां’ के लिए नहीं है, क्योंकि वह तो ‘यहां’ है।

012/ शांति के लिए अभ्यास नहीं सद्भाव चाहिए

एक संध्या की बात है। गेलीली झील पर तूफान आया हुआ था। एक नौका डूबती- डूबती हो रही थी। बचाव का कोई उपाय नहीं दीखता था। यात्री और मांझी घबरा गये थे। आंधियों के थपेड़े प्राणों को हिला रहे थे। पानी की लहरें भीतर आना शुरू हो गयी थीं। और किनारे पहुंच से बहुत दूर थे। पर इस गरजते तूफान में भी नौका के एक कोने में एक व्यक्ति सोया हुआ था-शांत और निश्चिंत। उसके साथियों ने उसे उठाया। सबकी आंखों में आसन्न मृत्यु की छाया थी।
उस व्यक्ति ने उठकर पूछाः ‘इतने भयभीत क्यों हो?’ जैसे भय की कोई बात
ही न थी।
उसके साथी अवाक रह गये। उनसे कुछ कहते भी तो नहीं बना। उसने पुनः पूछाः ‘क्या अपने आप पर बिल्कुल भी आस्था नहीं है?’ इतना कहकर वह शांति और धीरज से उठा और नाव के एक किनारे पर गया। तूफान आखिरी चोटें कर रहा था। उसने विक्षुब्ध हो गयी झील से जाकर कहा: ‘शांति, शांत हो जाओ। (च्मंबमए इमेजपससण्)’
तूफान जैसे कोई नटखट बच्चा था। ऐसे ही उसने कहा थाः ‘शांत हो जाओ!’
यात्री समझे होंगे कि यह क्या पागलपन है! तूफान क्या किसी की मानेगा? लेकिन उनकी आंखों के सामने ही तूफान सो गया था और झील ऐसी शांत हो गयी थी कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। उस व्यक्ति की बात मान ली गयी थी।
वह व्यक्ति था जीसस क्राइस्ट। यह बात है, दो हजार वर्ष पुरानी। पर मुझे यह घटना रोज ही घटती मालूम होती है। क्या हम सभी निरंतर एक तूफान, एक अशांति से नहीं घिरे हुए हैं? क्या हमारी आंखों में भी निरंतर आसन्न मृत्यु की छाया नहीं है? क्या हमारे भीतर चित्त की झील विक्षुब्ध नहीं है? क्या हमारी जीवन-नौका भी प्रतिक्षण डूबती-डूबती मालूम नहीं होती है? तब क्या यह उचित नहीं है कि हम अपने से पूछेंः ‘इतने भयभीत क्यों हो? क्या अपने आप पर बिल्कुल भी आस्था नहीं है?’ और फिर अपने भीतर झील पर जा कर कहेंः ‘शांति, शांत हो जाओ।’ मैंने यह कह कर देखा है और पाया है कि तूफान सो जाता है। केवल शांत होने के भाव करने की ही बात है और शांति आ जाती है। अपने भाव से प्रत्येक अशांत है। अपने भाव से शांत भी हो सकता है। शांति उपलब्ध करना अभ्यास की बात नहीं है। केवल सदभाव ही पर्याप्त है। शांति तो हमारा स्वरूप है। घनी अशांति के बीच भी एक केंद्र पर हम शांत हैं। एक व्यक्ति यहां तूफान के बीच भी निश्चिंत सोया हुआ है। इस शांत, निश्चल, निश्चिंत केंद्र पर ही हमारा वास्तविक होना है। उसके होते हुए भी हम अशांत हो सके हैं, यही आश्चर्य है। उसे वापस पा लेने में तो कोई आश्चर्य नहीं है।
शांत होना चाहते हो तो इसी क्षण, अभी और यहीं शांत हो सकते हो। अभ्यास भविष्य में फल लाता है, सदभाव वर्तमान में ही। सदभाव अकेला वास्तविक परिवर्तन है।

013/ सत्य लाया नहीं जाता, स्वयं आता है

‘मैं कौन हूँ?’ यह अपने से पूछता था। कितने दिवस-रात्रि यह पूछते बीते;
अब उनकी कोई गणना भी तो संभव नहीं है। बुद्धि उत्तर देती थी: सुने हुए संस्कारजन्य। वे सब उत्तर, उधार और मृत थे। उनसे तृप्ति नहीं होती थी। सतह पर कहीं गूंजकर वे विलीन हो जाते थे। अंतरात्मा उनसे अछूती रह जाती थी। गहराई में उनकी कोई ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी। उत्तर बहुत थे, पर उत्तर नहीं था। और मैं उनसे अस्पर्शित रह जाता था। प्रश्न जहां पर था, वहां उनकी पहुंच नहीं थी।

फिर यह दिखा कि प्रश्न कहीं केंद्र पर थाः उत्तर परिधि पर थे। प्रश्न अपना था, उत्तर पराये थे। प्रश्न अंतस में जागा था, समाधान बाहर से आरोपित था।
और यह दिखना तो क्रांति बन गया।
एक नई दिशा उद्घाटित हो गयी।
बुद्धि के समाधान व्यर्थ हो गये। समस्या से उनकी कोई संगति नहीं थी।
एक भ्रम भग्न हो गया था। और कितनी मुक्ति मालूम हुई थी।
जैसे बंद द्वार खुल गया हो या फिर अचानक अंधेरे में प्रकाश हो गया हो, ऐसा मालूम हुआ था। बुद्धि उत्तर देती थी, यही भूल थी। उन तथाकथित उत्तरों के कारण वास्तविक उत्तर ऊपर नहीं आ पाता था। कोई सत्य ऊपर आने को तड़प रहा था। चेतना की गहराइयों में कोई बीज भूमि को तोड़कर प्रकाश के लिए मार्ग खोज रहा था। बुद्धि बाधा थी।
यह दिखा तो उत्तर गिरने लगा। बाहर से आया ज्ञान वाष्प होने लगा। प्रश्न और गहरा हो गया। कुछ किया नहीं, केवल देखता रहा, देखता रहा। कुछ अभिनव घटित हो रहा था। मैं तो अवाक था। करने को था ही क्या, मैं जैसे बस दर्शक ही था। परिधि की प्रतिक्रियाएं झड़ रही थीं, मिट रही थीं, न हो रही थीं। और केंद्र अब पूरी तरह झंकृत हो उठा था।
‘मैं कौन हूं?’- एक ही प्रयास में समग्र व्यक्तित्व स्पंदित हो उठा था।
कैसी आंधी थी, वह कि श्वास-श्वास उसमें कंपित हो गयी थी।
‘कौन हूं मैं?’- एक तीर की भांति प्रश्न सब-कुछ चीरता भीतर चला रहा था। स्मरण करता हूं, कितनी तीव्र प्यास थी! सारे प्राण ही तो प्यास में बदल गये थे। सब कुछ जल रहा था। और एक अग्नि-शिखा की भांति प्रश्न भीतर खड़ा थाः ‘कौन हूं मैं?’
और आश्चर्य की बुद्धि बिल्कुल चुप थी। निरंतर बहने वाले विचार नहीं थे। यह क्या हुआ था कि परिधि नितांत निस्पंद थी! कोई विचार नहीं था। कोई संस्कार नहीं था।
मैं था और प्रश्न था। नहीं, नहीं; मैं ही प्रश्न था।
और फिर विस्फोट हो गया। एक क्षण में सब परिवर्तित हो गया। प्रश्न गिर गया था। किसी अज्ञात आयाम से समाधान आ गया था।
सत्य क्रम से नहीं, विस्फोट से उपलब्ध होता है।
उसे लाया नहीं जाता। सत्य आता है।
शब्द नहीं, शून्य समाधान है। निरुत्तर हो जाने में उत्तर है।
कल कोई पूछता था, और रोज कहीं कोई पूछता हैः ‘वह उत्तर क्या है?’
मैं कहता हूंः ‘उसे मैं कहूं तो अर्थहीन है, उसका अर्थ स्वयं पाने में है।’

014/ तुम्हारी निद्रा तोड़ना चाहता हूं

मैं उपदेशक नहीं हूं। कोई उपदेश, कोई शिक्षा मैं नहीं देना चाहता हूं। अपना कोई विचार तुम्हारे मन में डालने की मेरी कोई आकांक्षा नहीं है। सब विचार व्यर्थ हैं और धूलिकणों की भांति वे तुम्हें आच्छादित कर लेते हैं। और फिर तुम जो नहीं हो वैसे दिखाई पड़ने लगते हो। और जो तुम नहीं जानते हो वह ज्ञात-सा मालूम होने लगता है। वह बहुत आत्मघातक है।
विचारों से अज्ञान मिटता नहीं, केवल छिप जाता है। ज्ञान को जगाने के लिए अज्ञान को उसकी पूरी नग्नता में जानना जरूरी है। इसलिए विचारों के वस्त्रों में अपने के मत ढांको। समस्त वस्त्रों और आवरणों को अलग कर दो ताकि तुम अपनी नग्नता और रिक्तता से परिचित हो सको। वह परिचय ही तुम्हें अज्ञान के पार ले जाने वाला सेतु बनेगा। अज्ञान के बोध का तीव्र संताप ही क्रांति का बिंदु है।
इससे मैं तुम्हें ढांकना नहीं, उघाड़ना चाहता हूं। जरा देखोः तुमने कितनी अंधी श्रद्धाओं और धारणाओं और कल्पनाओं में अपने को छिपा लिया है!

और इन मिथ्या सुरक्षाओं में तुम अपने को सुरक्षित समझ रहे हो। यह सुरक्षा नहीं, आत्मवंचना है।
मैं तुम्हारी इस निद्रा को तोड़ना चाहता हूं। स्वप्न नहीं, केवल सत्य
ही एकमात्र सुरक्षा है।
और तुम यदि स्वप्नों को छोड़ने का साहस करो तो सत्य को पाने के अधिकारी
हो जाते हो। कितना सस्ता सौदा है! सत्य को पाने के लिए और कुछ नहीं केवल स्वप्न ही छोड़ने पड़ते हैं।
विचारों की, स्वप्नों की, कल्पना-चित्रों की मूर्च्छा को तोड़ना है। उससे, जो कि दिख रहा है, उस पर जागना है, जो कि देख रहा है।
‘वह द्रष्टा ही सत्य है, उसे पा लो, तो समझो कि जीवन पा लिया है।’ यह किसी से कह रहा था। वे सुनकर विचारमग्न हो गये। मैंने उनसे कहा: ‘आप तो सोच में पड़ गये। उसी से तो मैं जगाने को कह रहा हूं। वही तो निद्रा है।’

015/ उसे देखो जो सबको देखता है!

एक बैलगाड़ी निकलती है। उसके चाक देखता हूं। धुरी पर चाक घूमते हैं।
जो स्वयं स्थिर है, उस पर चाकों का घूमना है। गति के पीछे स्थिर बैठा हुआ है। क्रिया के पीछे अक्रिया है। सत्ता के पीछे शून्य का वास है।
ऐसे ही एक दिन देखा धूल का एक बवंडर। धूल का गुब्बारा चक्कर खाता हुआ ऊपर उठ रहा था पर बीच में एक केंद्र था जहां सब शांत और स्थिर था।
क्या जगत का मूल सत्य इन प्रतीकों में प्रकट नहीं है?
क्या समस्त सत्ता के पीछे शून्य नहीं बैठा हुआ है?
क्या समस्त क्रिया के पीछे अक्रिया नहीं है?
शून्य ही सत्ता का केंद्र और प्राण है। उसे ही जानना है। उसमें ही होना है क्योंकि वही हमारा वास्तविक होना है। जो प्रत्येक अपने केंद्र पर है, वही प्रत्येक का होना है। कहीं और नहीं, जहां हम हैं, वहीं हमें चलना है।
यह होना कैसे हो?
उसे देखो जो ‘देखता है’ और शून्य में उतरना हो जाता है।
‘दृश्य’ से ‘द्रष्टा’ की ओर चलना है। दृश्य है रूप, क्रिया, सत्ता।
दृष्टा है अरूप, अक्रिया, शून्य। ‘दृश्य’ है पर, अनित्य, संसार, बंधन, अमुक्ति, आवागमन। ‘दृष्टा’ है स्व, नित्य, ब्रह्म, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण।
देखो-जो देखता है, उसे देखो। यही समस्त योग है।
यही रोज कह रहा हूं या जो भी कह रहा हूं, उसमें यही है।

016/ स्वयं को जाने बिना ज्ञान की प्यास नहीं मिटती

ज्ञान के लिए पिपासा है। कितनी प्यास है? प्रत्येक में उसे मैं देखता हूं। कुछ भीतर प्रज्वलित है जो शांत होना चाहता है और मनुष्य कितनी दिशाओं में खोजता है। शायद अनंत जन्मों से उसकी यह खोज चलती है। किसी स्वर्णमृग को खोजता उसका चित्त भटकता ही रहता है। पर हर चरण पर निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आता है। कोई रास्ता पहुंचता हुआ नहीं प्रतीत होता है। गति होती है। पर गंतव्य आता हुआ नहीं दिखता है। क्या रास्ते कहीं भी नहीं ले जाते हैं?
इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना है। जीवन स्वयं इसका उत्तर है। क्या अनंत मार्गो और दिशाओं में चलकर उत्तर नहीं मिल गया है?

बौद्धिक उत्तर खोजने में, उसके धुएं में, वास्तविक उत्तर खो जाता है।
बुद्धि चुप हो तो अनुभूति बोलती है। विचार मौन हों तो विवेक जाग्रत होता है।
वस्तुतः जीवन के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर नहीं होते हैं। समस्याएं
हल नहीं होती, गिर जाती हैं। केवल पूछने और शून्य हो जाने की बात है।
बुद्धि केवल पूछ सकती है। समाधान उससे नहीं, शून्य से आता है।
‘समाधान शून्य से आता है,’ इस सत्य को जानते ही एक नये आयाम पर जीवन का उद्घाटन प्रारंभ हो जाता है। चित्त की इस स्थिति का नाम समाधि है।
पूछें और चुप हो जाएं- बिल्कुल चुप। और समाधान को आने दें, उसे फलने दें। और चित्त की इस निस्तरंग स्थिति में दर्शन होता है उसका-जो है, जो मैं हूं।
स्वयं को जाने बिना ज्ञान की प्यास नहीं मिटती है।
सब मार्ग छोड़कर स्वयं पर पहुंचना होता है। चित्त जब किसी मार्ग पर नहीं है, तब स्वयं में है। और स्वयं को जानना ज्ञान है। शेष सब जानकारी है, क्योंकि परोक्ष है। विज्ञान ज्ञान नहीं है। वह सत्य को नहीं, केवल उपयोगिता को जानना है। सत्य केवल अपरोक्ष ही जाना जा सकता है। और ऐसी सत्ता केवल स्वयं की ही है, जो कि अपरोक्ष जानी जा सकती है।
चित्त जिस क्षण खोज की व्यर्थता को जानकर चुप और थिर रह जाता है, उसी क्षण अनंत के द्वार खुल जाते हैं।
दिशा-शून्य चेतना प्रभु में विराजमान हो जाती है और ज्ञान की प्यास
का अंत केवल प्रभु में ही है।

017/ पूर्ण मौन ही एक मात्र प्रार्थना

अर्ध रात्रि बीत गई है। एक सभा से लौटा हूं। वहां कोई कह रहे थेः ‘प्रभु को पुकारो। उसका नाम स्मरण करो। निरंतर बुलाने से वह अवश्य सुनता है।’
मुझे याद आया, कबीर ने कहा है, ‘क्या ईश्वर बहरा हो गया है?’
शायद कबीर के शब्द उन तक नहीं पहुंचे हैं।
फिर, उन्हें कहते सुनाः ‘दस आदमी सो रहे हें। किसी ने पुकाराः देवदत्त।’ तो देवदत्त उठ आता है। ऐसा ही प्रभु के संबंध में भी है। उसका नाम पुकारो, वह अवश्य सुनता है।’
उनकी बातें सुन मुझे हंसी आने लगी थी। प्रथम तो यह कि प्रभु नहीं, हम
सो रहे हैं। वह तो नित्य जाग्रत है। उसे नहीं, वरन हमें जागना है। फिर सोए हुए जाग्रत को जगावें, तो बड़े मजे की बात है! उसे पुकारना नहीं, उसकी ही पुकार हमें सुननी है। यह मौन में होगा- परिपूर्ण निस्तरंग चित्त में होगा। जब चित्त में कोई ध्वनि नहीं है, तब उसका नाद उपलब्ध होता है। पूर्ण मौन ही एक मात्र प्रार्थना है। प्रार्थना कुछ करना नहीं है वरन
जब चित्त कुछ भी नहीं कह रहा है, तब वह प्रार्थना में है।
प्रार्थना क्रिया नहीं अवस्था है।
द्वितीय, प्रभु का कोई नाम नहीं है, न उसका कोई रूप है। इसलिए उसे बुलाने और स्मरण करने का कोई उपाय भी नहीं है। सब नाम, सब रूप कल्पित हैं।
वे सब मिथ्या हैं। उनसे नहीं, उन्हें छोड़कर सत्य तक पहुंचना होता है।
जो सब छोड़ने का साहस करता है, वह उसे पाने की शर्त पूरी करता है।

018/ जीवन पाने के लिए स्वयं को मिटाना होगा

मैंने सुना हैः एक फकीर भीख मांगने निकला था। वह बूढ़ा हो गया था और आंखों से उसे कम दिखता था। उसने एक मस्जिद के सामने आवाज लगायी थी। किसी ने उससे कहाः ‘आगे बढ़। यह ऐसे आदमी का मकान नहीं है, जो तुझे कुछ दे सके।’

फकीर ने कहाः ‘आखिर इस मकान का मालिक कौन है, जो किसी को कुछ नहीं देता?’ वह आदमी बोला, ‘पागल, तुझे यह भी पता नहीं कि यह मस्जिद है! इस घर का मालिक स्वयं परमपिता परमात्मा है।’
फकीर ने सिर उठाकर मस्जिद पर एक नजर डाली और उसका हृदय एक जलती हुई प्यास से भर गया। कोई उसके भीतर बोलाः ‘अफसोस, असंभव है इस दरवाजे आगे बढ़ना। आखिरी दरवाजा आ गया। इसके आगे और दरवाजा कहां है?’
उसके भीतर एक संकल्प घना हो गया। अडिग चट्टान की भांति उसके हृदय ने कहाः ‘यहां से खाली हाथ नहीं लौटूंगा। जो यहां से खाली हाथ लौट गये, उनके भरे हाथों का मूल्य क्या?’
वह उन्हीं सीढ़ियों के पास रुक गया। उसने अपने खाली हाथों को आकाश की तरफ फैला दिया। वह प्यास था-और प्यास ही प्रार्थना है।
दिन आये और गये। माह आये और गये। ग्रीष्म बीती, वर्षा बीती, सर्दियां
भी बीत चलीं। एक वर्ष पूरा हो रहा था। उस बूढ़े के जीवन की मियाद भी पूरी हो गई थी। पर अंतिम क्षणों में लोगों ने उसे नाचते देखा था।
उसकी आंखें एक अलौकिक दीप्ति से भर गयीं थीं। उसके वृद्ध शरीर से प्रकाश झर रहा था।
उसने मरने से पूर्व एक व्यक्ति से कहा थाः ‘जो मांगता है, उसे मिल जाता है। केवल अपने को समर्पित करने का साहस चाहिए।’
अपने को समर्पित करने का साहस।
अपने को मिटा देने का साहस।
शून्य होने का साहस।
जो मिटने को राजी है, वह पूरा हो जाता है। जो मरने को राजी है, वह जीवन
पा लेता है।

019/ सागर को पाना नहीं, पीना है

एक प्रभात गौतम बुद्ध बोलने को थे। पर इसके पहले कि वे अपना मौन तोड़ते, विहार के द्वार पर एक विहंग गीत गाने लगा था। उस शांत, उस निस्तब्ध प्रभात में फिर वे चुप ही रहे। सूर्य अपनी किरणों का जाल बुनता रहा और पक्षी गीत गाता रहा। बुद्ध चुप थे तो सभी चुप थे। और उस मौन में, उस शून्य में वह गीत दिव्य हो गया था। गीत पूरा हुआ तो शून्य और गहरा हो गया था। बुद्ध फिर उठ गये। उस दिन वे कुछ भी नहीं बोले। उस दिन बस, यह मौन प्रवचन ही हुआ था।
उस मौन से उन्होंने जो कहा, वह किसी शब्द से कभी नहीं कहा गया है।
इस जगत में और इस जीवन में जो भी है, सब दिव्य है, सब भागवत है। सब में विराट की छाप और छाया है। वही सब में प्रच्छन्न है। वही सब में प्रकट है।
उसका ही रूप है, उसकी ही ध्वनि है। पर हम चुप नहीं हैं, इसलिए उसे नहीं सुन पाते हैं। और हमारी आंखें खुली नहीं हैं, इसलिए उसका दर्शन नहीं हो पाता है।
हम अतिशय हैं, इसलिए ‘वह’ नहीं होता है।
हम खाली हों, तो वह अभी और यहीं है।
सत्य है, वह स्व-मूर्च्छा में है, जैसे प्रकाश हो पर आंख बंद हो। और फिर स्व को तो नहीं जगाते हैं, सत्य की खोज करते हैं! आंख तो खोलते नहीं हैं, और प्रकाश का अनुसंधान करते हैं! इस भूल में कभी मत पड़ना। सब खोज छोड़ो और चुप हो जाओ। चित्त को चुप कर लो और सुनो। आंखें खुली कर लो और देखो।
जैसे पानी की मछली मुझ से पूछे कि उसे सागर खोजना है, तो उससे मैं क्या कहूंगा? मैं उससे कहूंगाः खोज छोड़ो और देखो कि तुम सागर में ही हो।
प्रत्येक सागर में है। सागर को पाना नहीं, पीना शुरू करना है।

020/ दुख-विस्मरण से दुख नहीं मिटता

एक मंदिर पड़ोस में है। रात्रि वहां रोज ही भजन-कीर्तन होने लगता है। धूप की तीव्र गंध उसके बंद प्रकोष्ठ में भर जाती है। फिर आरती-वंदन होता है। वाद्य बजते हैं। घंटो का निनाद होता है और ढोल भी बजते हैं। फिर पुजारी नृत्य करता है और क्रमशः भक्तगण भी नाचने लगते हैं।
यह देखने एक दिन मंदिर के भीतर गया था। जो देखा वह पूजा नहीं, मूर्च्छा थी। वह प्रार्थना के नाम पर आत्म-विस्मरण था। अपने को भूलना दुख-विस्मरण देता है। जो नशा करता है, वही काम धर्म के ऐसे रूप भी कर देते हैं। जीवन-संताप को कौन नहीं भूलना चाहता है? मादक द्रव्य इसीलिए खोजे जाते हैं। मादक-क्रिया काण्ड भी इसीलिए खोजे जाते हैं। मनुष्य ने बहुत तरह की शराबें बनाई हैं। और सबसे खतरनाक शराबें वे हैं, जो कि बोतलों में बंद नहीं होती हैं।
दुख-विस्मरण से दुख मिटता नहीं है। उसके बीज ऐसे नष्ट नहीं होते, विपरीत, उसकी जड़े और मजबूत होती जाती हैं। दुख को भूलना नहीं, मिटाना होता है। उसे भूलना धर्म नहीं, वंचना है।
दुख-विस्मरण का उपाय जैसे स्व-विस्मरण है, वैसे ही दुख-विनाश का स्व-स्मरण है। धर्म वह है, जो स्व को परिपूर्ण जाग्रत करता है। धर्म के शेष सब रूप मिथ्या हैं। स्व-स्मृति पथ है, स्व-विस्मृत विपथ है। यह भी स्मरण रहे कि स्व-विस्मृति से स्व मिटता नहीं है। उसकी प्रच्छन्न धारा प्रवाहित ही रहती है। स्व-स्मृति से ही स्व विसर्जित होता है।
जो स्व को परिपूर्ण जानता है, वह स्व के विसर्जन को उपलब्ध हो, सर्व को
पा लेता है। स्व के विस्मरण से नहीं, स्व के विसर्जन से सर्व की राह है। प्रभु के स्मरण से स्व को भूलाना भूल है। स्व के बोध से स्व को मिटाना मार्ग है। और जब स्व नहीं रह जाता है, तब जो शेष रह जाता है, वही प्रभु है।
प्रभु स्व के विस्मरण से नहीं, स्व के विसर्जन से उपलब्ध होता है।

021/ दीपक की लौ की भांति ही मनुष्य की चेतना है

सांझ से ही आंधी-पानी है। हवाओं के थपेड़ों ने बड़े वृक्षों को हिला डाला है। बिजली बंद हो गयी है और नगर में अंधेरा है।
घर में एक दीपक जलाया गया है।
उसकी लौ ऊपर की ओर उठ रही है। दीया भूमि का भाग है, पर लौ न मालूम किसे पाने निरंतर ऊपर की ओर भागती रहती है।
इस लौ की भांति ही मनुष्य चेतना भी है।
शरीर भूमि पर तृप्त है, पर मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है, जो निरंतर भूमि से ऊपर उठना चाहता है। यह चेतना ही, यह अग्नि-शिखा ही मनुष्य का प्राण है। यह निरंतर ऊपर उठने की उत्सुकता ही उसकी आत्मा है।
यह लौ है, इसलिए मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा सब मिट्टी है।
यह लौ पूरी तरह जले तो जीवन में क्रांति घटित हो जाती है।
यह लौ पूरी तरह दिखाई देने लगे तो मिट्टी के बीच ही मिट्टी को पार कर लिया जाता है।
मनुष्य एक दीया है। मिट्टी भी है, उसमें ज्योति भी है। मिट्टी पर ही ध्यान रहा, तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। ज्योति पर ध्यान जाना चाहिए।
ज्योति पर ध्यान जाते ही सब कुछ परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि तब मिट्टी में ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

022/ संयम और संगीत ही साधना है

सुबह जा चुकी है। धूप गर्म हो रही है और मन छाया में चलने को है।

एक वृद्ध अध्यापक आये हें। वर्षो से साधना में लगे हैं। तन सूख कर हड्डी-हड्डी हो गया है और आंखें धूमिल हो गयी हैं और गड्ढों में खो गयी हैं। लगता है कि अपने को बहुत सताया है और उस आत्मपीड़न को ही साधना समझा है।

प्रभु के मार्ग पर चलने को जो उत्सुक होते हैं, उनमें अधिक का जीवन इसी भूल से विषाक्त हो जाता है। प्रभु को पाना, संसार के निषेध का रूप ले लेता है। और आत्मा की साधना, शरीर को नष्ट करने का। यह नकार-दृष्टि उन्हें नष्ट कर देती है और उन्हें ख्याल भी नहीं आ पाता है कि पदार्थ का विरोध परमात्मा के साक्षात का पर्यायवाची नहीं हैं।

सच तो यह है कि देह के उत्पीड़क देहवादी ही होते हैं। और संसार के विरोधी, बहुत सूक्ष्म रूप से संसार से ही ग्रसित होते हैं।

संसार के प्रति भोग-दृष्टि जितना संसार में बांधती है, विरोधी-दृष्टि उससे कम नहीं, ज्यादा ही बांधती है।

संसार और शरीर का विरोध नहीं, अतिक्रमण करना साधना है। और वह दिशा न भोग की है और न दमन की है। वह दिशा दोनों से भिन्न है।

वह तीसरी दिशा है। वह दिशा संयम की है। दो बिंदुओं के बीच मध्य बिंदु खोज लेना संयम है। पूर्ण मध्य में जो है, वह अतिक्रमण है। वह कहने को ही मध्य में है, वस्तुतः वह दोनों के अतीत है।

भोग और दमन के जो पूर्ण मध्य में है, वह कुछ भोग और कुछ दमन नहीं है। वह न भोग है और न दमन है। वह समझौता नहीं, संयम है।

अति असंयम है, मध्य संयम है। अति विनाश है, मध्य जीवन है। जो अति को पकड़ता है, वह नष्ट हो जाता है। भोग और दमन दोनों जीवन को नष्ट कर देते हैं। अति ही अज्ञान है और अंधकार है और मृत्यु है।

मैं संयम और संगीत को साधना कहता हूं।

वीणा के तार जब न ढीले होते हैं और न कसे ही होते हैं, तब संगीत पैदा होता है। बहुत ढीले तार भी व्यर्थ हैं और बहुत कसे तार भी व्यर्थ हैं। पर तारों की एक ऐसी भी स्थिति होती है जब वे न कसे कहे जा सकते हैं, न ढीले कहे जा सकते हैं। वह बिंदु ही उनमें संगीत के जन्म का बिंदु बनता है। जीवन में भी वही बिंदु संयम का है। जो नियम संगीत का है, वही संयम का है। संयम से सत्य मिलता है।

संयम की यह बात उनसे कही है और लगता है कि जैसे उसे उन्होंने सुना है। उनकी आंखें गवाही हैं। जैसे कोई सोकर उठा हो, ऐसा उनकी आंखों में भाव है। वे शांत और स्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं। कोई तनाव जैसे शिथिल हो गया है और कोई दर्शन उपलब्ध हुआ है।

मैने जाते समय उनसे कहाः 'सब तनाव छोड़ दें और फिर देखें। भोग छोड़ा है, दमन भी छोड़ दें। छोड़कर - सब छोड़कर देखें। सहज होकर देखें - सहजता ही स्वस्थ करती है, स्वभाव में ले जाती है।'

उन्होंने उत्तर में कहाः 'छोड़ने को अब क्या रहा? छूट ही गया। मैं शांत और निर्भर हो कर जा रहा हूं। एक दुख-स्वप्न जैसे टूट गया है। मैं बहुत उपकृत हूं।' और उनकी आंखें बहुत सरल और शांत हो गयी हैं और उनकी मुस्कराहट बहुत भली लग रही है। वे वृद्ध हैं, पर बिल्कुल बालक लग रहे हैं।

काश, यह उन सभी को दीख सके जो प्रभु में उत्सुक होते हैं।

023/ जहां विचार नहीं, वहां मन नहीं!

सत्य को पाना है, तो मन को छोड़ दो। मन के न-होते ही सत्य आविष्कृत हो जाता है, वैसे ही जैसे किसी ने द्वार खोल दिये हों और सूर्य का प्रकाश भीतर आ गया हो। सत्य के आगमन को मन दीवार की भांति रोके हुए है। मन की इस दीवार की ईटें विचारों से बनी है। विचार, विचार और विचार-विचारों की यह श्रृंखला ही मन है। रमण ने किसी से कहा था: 'विचारों को रोक दो और फिर मुझे बताओ कि मन कहां है?'

विचार जहां नहीं है, वहां मन नहीं है। ईटें न हो, तो दीवार कैसे होगी?

एक साधु रात्रि आये थे। पूछते थेः ‘मन के साथ क्या करूं?’ मैंने कहाः ‘कुछ भी न करो। मन को छोड़ दो और देखो। उसे बिल्कुल छोड़ दो और बस देखते रहो। जैसे कोई नदी के किनारे बैठकर जल-प्रवाह को देखता है। ऐसे ही विचार-प्रवाह को देखो-अलिप्त और असंग। देखते रहो और देखते रहो। उस देखने के आघात से विचार शून्य हो जाते हैं और मन नहीं पाया जाता है।’
मन के हटते ही उसके रिक्त स्थान में जिसका अनुभव होता है, वही आत्मा है, वही सत्य है; क्योंकि वही सत्ता है।

024/ अमूर्त के दर्शन करने हैं, तो मूर्त को अग्नि दो

एक सर्द और अंधेरी रात्री में एक साधु किसी मंदिर में ठहरा था। उसने सर्दी दूर करने को भगवान की एक काष्ठ मूर्ति जला ली। आग जली देख पुजारी जाग गया। उसने मूर्ति को जलते देखा तो अवाक रह गया। वह क्रोध में कुछ बोल भी न सका- वह कृत्य ऐसा ही असोचनीय था। तभी उसने देखाः साधु जली राख के ढेर में कुछ खोज रहा है। उसने पूछा कि क्या कर रहे हो? साधु ने कहाः ‘भगवान की देह की अस्थियां खोजता हूं।’ अब पुजारी के समक्ष उस साधु का पागलपन पूरी तरह स्पष्ट हो गया था। उसने साधु से कहाः ‘पागल, लकड़ी में अस्थियां कहां रखी हैं?’ वह साधु बोलाः ‘तब एक मूर्ति और लाने की कृपा करो, रात बहुत सर्द है और बहुत लंबी भी है।’
मैं इस कथा को सोचता हूं और लगता है कि वह पागल साधु मैं ही हूं।
मैं चाहता हूं कि हम मूर्तियों से मुक्त हो सकें, ताकि जो अमूर्त है, उसके दर्शन संभव हों। रूप पर जो रुका है, वह अरूप पर नहीं पहुंच पाता है। आकार जिसकी दृष्टि में है, वह निराकार सागर में कैसे कूदेगा? वह जो दूसरे की पूजा में है, वह अपने पर आ सके, यह कैसे संभव है? मूर्त को अग्नि दो, ताकि अमूर्त ही अनुभूति में शेष रहे। और आकार की बदलियों को विसर्जित होने दो ताकि निराकार आकाश उपलब्ध हो सके। रूप को बहने दो ताकि नौका अरूप के सागर में पहुंचे। जो सीमा के तट से अपनी नौका छोड़ देता है, वह अवश्य ही असीम को पहुंचता और असीम हो जाता है।

025/ प्रार्थना

‘प्रार्थना क्या है?’ आत्म-विस्मरण! नहीं, प्रार्थना आत्म-विस्मरण नहीं है। वह-जिसमें भूलना, डूबना और खोना है- मादकता का ही एक रूप है। वह उपाय प्रार्थना नहीं, पलायन है। शब्द में, संगीत में खोया जा सकता है। ध्वनि-सम्मोहन में, नृत्य में ‘जो है’ उसका विस्मरण हो सकता है। यह विस्मरण और बेहोशी सुखद भी मालूम हो सकती है, पर यह प्रार्थना नहीं है। यह मूर्च्छा है, जब कि प्रार्थना सम्यक चैतन्य में जागरण का नाम है। प्रार्थना क्या कोई क्रिया है? क्या कुछ करना प्रार्थना है?
नहीं, प्रार्थना क्रिया नहीं, वरन चेतना की एक स्थिति है। प्रार्थना
की नहीं जाती है, प्रार्थना में हुआ जाता है। प्रार्थना मूलतः अक्रिया है। जब सब क्रियाएं शून्य हैं, और केवल साक्षी चैतन्य शेष रह गया है, ऐसी स्थिति का नाम प्रार्थना है। प्रार्थना शब्द से भी ‘करने’ की ध्वनि निकलती है। ध्यान शब्द से भी ‘करने’ की ध्वनि निकलती है। पर वे दोनों शब्द क्रियाओं के लिए नहीं, चेतना की स्थिति के लिए प्रयुक्त हुए हैं।
‘शून्य में, मौन में, निःशब्द में होना प्रार्थना है, ध्यान है।’
एक प्रार्थना सभा में मैंने कल यह कहा है।
किसी ने बाद में मुझ से पूछाः ‘फिर हम क्या करें?’
मैंने कहाः ‘थोड़े समय को कुछ भी न करें। बिल्कुल विश्राम में अपने को छोड़ दें। शरीर व मन दोनों को चुप हो जाने दें। चुपचाप मन को देखते रहें, वह अपने से शांत और शून्य हो जाता है। इसी शून्य में, सत्य का सान्निध्य

उपलब्ध होता है। इसी शून्य में वह प्रकट होता है, जो भीतर है, और वह भी जो बाहर है। फिर बाहर और भीतर मिट जाते हैं और केवल वही रह जाता है ‘जो है’।’ इस शुद्ध ‘है’ की समग्रता का नाम ईश्वर है।

026/ शून्य होना ही एकमात्र पुरुषार्थ है!

संध्या बीती है, कुछ लोग आये हैं। वे कहते हैं कि ‘आप शून्य सिखाते हैं। पर शून्य के तो विचार से ही भय लगता है। क्या कोई सहारा और आधार नहीं हो सकता है?’
मैं उनसे कहता हूं कि शून्य में कूदने में अवश्य साहस की जरूरत है। पर
जो कूद जाते हैं, वे शून्य को नहीं, पूर्ण को पाते हैं; और जो कोई कल्पित सहारा और आधार पकड़ते रहते हैं, वे शून्य में ही अटके रहते हैं। कल्पनाओं के सहारे और आधार भी क्या कोई सहारे और आधार हैं!
सत्य का सहारा और आधार केवल शून्य से ही मिलता है। शून्य होने का अर्थ- कल्पनाओं के सहारों और आधारों से ही शून्य होना है।
एक कहानी उनसे कहता हूंः ‘एक अमावस की अंधेरी रात्रि में, पर्वतीय निर्जन से गुजरते एक अजनबी यात्री ने पाया कि वह किसी खड्ड में गिर गया है। उसके पैर चट्टान से फिसल गये हैं, और वह एक झाड़ी को पकड़ कर लटक गया है। चारों और अंधकार है। नीचे भी अंधकार और भयंकर खड्ड है। घंटों वह उस झाड़ी को पकड़े लटका रहा। और उसने इस समय में संभाव्य मृत्यु की बहुत पीड़ा सही। सर्दी की रात्रि थी। फिर क्रमशः उसके हाथ ठंडे और जड़ हो गये। और अंततः उसके हाथों ने जवाब दे दिया। उसे उस भयंकर खड्ड में गिरना ही पड़ा। उसकी कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकी। और उसने अपनी आंखों से स्वयं को मृत्यु के मुंह में जाते देखा। वह गिरा, पर गिरा नहीं। वहां खड्ड था ही नहीं। गिरते ही उसने पाया कि वह जमीन पर खड़ा है।’
ऐसे ही मैंने भी पाया है। शून्य में गिरकर पाया कि शून्य ही भूमि है। चित्त के सब आधार जो छोड़ देता है, वह प्रभु का आधार पा जाता है। शून्य होने का पुरुषार्थ ही एकमात्र पुरुषार्थ है और जो शून्य होने की शक्ति नहीं जुटा पाता है, वे ‘शून्य’ ही बने रह जाते हैं।

027/ प्रेम-मृत्यु ही जीवन है!

सुबह घूमकर लौटा था। नदी-तट पर एक छोटे से झरने से मिलना हुआ। राह के सूखे पत्तों को हटाकर वह छोटा-सा झरना नदी की ओर भाग रहा था। उसकी दौड़ देखी और फिर नदी में उसका आनंदपूर्ण मिलन भी देखा। फिर देखा कि नदी भी भाग रही है।
और फिर देखा कि सब कुछ भाग रहा है। सागर से मिलने के लिए, असीम में खोने के लिए। पूर्ण को पाने के लिए समस्त जीवन ही-राह के सूखे-मृत पत्तों को हटाता हुआ-भागा जा रहा है।
बूंद सागर होना चाहती है। यही सूत्र समस्त जीवन का ध्येय-सूत्र है।
उसके आधार पर ही सारी गति है और उसकी पूर्णता में ही आनंद है। सीमा दुख है, अपूर्णता दुख है। जीवन सीमा के, अपूर्णता के समस्त अवरोधों के पार उठना चाहता है। उनके कारण उसे मृत्यु झेलनी पड़ती है। उसके अभाव में वह अमृत है। उनके कारण वह खंड है, उनके अभाव में वह अखंड हो जाता है।
पर मनुष्य अहं की बूंद पर रुक जाता है और वहीं वह जीवन के अनंत प्रवाह में खंडित हो जाता है। इस भांति वह अपने ही हाथों सूरज को खोकर एक क्षीणकाय दीये की लौ में तृप्ति को खोजने का निरर्थक प्रयास करता है। उसे तृप्ति नहीं मिल सकती है, क्योंकि बूंद, बूंद बनी रहकर कैसे तृप्त हो सकती है? सागर हुए बिना कोई राह नहीं है। सागर ही गंतव्य है। सागर होना ही

होगा। बूंद को खोना जरूरी है। अहं को मिटाना जरूरी है। अहं ब्रह्मं बने, तभी संतृप्ति संभव है।
सागर होने की संतृप्ति ही सत्य में प्रतिष्ठित करती है और वह संतृप्ति ही मुक्त करती है। क्योंकि जो संतृप्त नहीं है, वह मुक्त कैसे हो सकता है!
जीसस क्राइस्ट ने कहा हैः ‘जो जीवन को बचाता है, वह उसे खो देता है; और
जो उसे खो देता है, वह उसे पा जाता है।’
यही मुझे भी कहने दें। यही प्रेम है। अपने को खो देना ही प्रेम है। प्रेम की मृत्यु को अंगीकार करना ही, प्रभु के जीवन को पाने का उपाय है। इसलिए मैं कहता हूंः बूंदो! सागर की ओर चलो। सागर ही गंतव्य है। प्रेम
की मृत्यु को वरण करो, क्योंकि वही जीवन है। जो सागर के पहले ठहर जाता है, वह मर जाता है; और जो सागर में पहुंच जाता है, वह मृत्यु के पार पहुंच जाता है।

028/ जीवन की मृत्यु नहीं और मृत का जीवन नहीं

एक बार ऐसा हुआ कि किसी साधु का शिष्य मर गया था। वह साधु उस शिष्य के
घर गया। उसके शिष्य की लाश रखी थी और लोग रोते थे। उस साधु ने जाकर जोर से पूछाः ‘यह मनुष्य मृत है या कि जीवित है?; जीम उंद कंक वत ंसपअमद्ध’ इस प्रश्न से लोग बहुत चौंके और हैरान हुए। यह कैसा प्रश्न था! लाश सामने थी और पूछने की बात ही क्या थी?
थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर किसी ने साधु से कहाः ‘आप ही बतावें?’
और जानते हैं कि साधु ने क्या कहा? साधु ने कहाः ‘जो मृत था, वह मृत है;
जो जीवित था, वह अभी भी जीवित है। केवल दोनों का संबंध टूट गया है।
जीवन की कोई मृत्यु नहीं होती है और मृत का कोई जीवन नहीं होता है।
जीवन को जो नहीं जानते हैं, वे मृत्यु को जीवन का अंत कहते हैं। जन्म जीवन का प्रारंभ नहीं है और मृत्यु उसका अंत नहीं है। जीवन- जन्म और मृत्यु के भीतर भी है और बाहर भी है। वह जन्म के पूर्व भी है और मृत्यु के पश्चात भी है। उसमें ही जन्म है, उसमें ही मृत्यु है; पर न उसका कोई जन्म है, न उसकी कोई मृत्यु है।
एक शवयात्रा से लौटा हूं। वहां चिता से लपटें उठीं, तो लोग बोलेः ‘सब समाप्त हो गया।’ मैंने कहाः ‘आंखें नहीं हैं, ऐसा इसलिए लगता है।’

029/ द्वंद्व में नहीं, द्वंद्व को देखने वाले ‘ज्ञान’ में स्थिर हों!

एक यात्रा से लौटा हूं। जहां गया था, वहां बहुत से साधु-साध्वियों से मिलना हुआ। साधना तो बिल्कुल नहीं है और साधु बहुत हैं! सब तरफ कागज ही कागज के फूल दिखाई देते हैं।
साधना के अभाव में धर्म असंभव है। फिर, धर्म के नाम से जो चलता है, उससे अधर्म का ही पोषण होता है। धर्म ऊपर और अधर्म भीतर होता है। और यह स्वाभाविक ही है। जिन पौधों में जड़े नहीं हैं, वे ऊपर से खोंसे हुए ही होंगे- किसी उत्सव में उनसे शोभा बन सकती है, पर उन पौधों में फूल और फल तो नहीं लग सकते हैं।
धर्म की जड़े साधना में हैं, योग में हैं। योग के अभाव में साधु का जीवन
या तो मात्र अभिनय हो सकता है या फिर दमन हो सकता है। दोनो ही बातें शुभ नहीं हैं। सदाचरण का मिथ्या अभिनय पाखंड है और दमन भी घातक है। उसमें संघर्ष तो है, पर उपलब्धि कोई नहीं। जिसे दबाया है, वह मरता नहीं, वरन और गहरी परतों पर सरक जाता है।

एक और वासना की पीड़ाएं हैं, उनकी ज्वालाओं में उत्तप्त और ज्वरग्रस्त जीवन है, तृष्णा की दुष्पूर दौड़ दुख है। और दूसरी ओर दमन और आत्मउत्पीड़न की अग्नि-शिखाएं हैं। एक ओर के कुएं से जो बचता है, वह दूसरी ओर की खाई में गिर जाता है।
योग न भोग है, न दमन है। वह तो दोनों से जागरण है। अतियों के द्वंद्व में से किसी को भी नहीं पकड़ना है। द्वंद्व का कोई भी पक्ष द्वंद्व से बाहर नहीं ले जा सकता है। उनके बाहर जाना, उनमें से किसी को भी चुनकर नही हो सकता है। जो उनमें से किसी को भी चुनता और पकड़ता है, वह उनके द्वारा ही चुना और पकड़ लिया जाता है।
योग किसी को पकड़ना नहीं है, वरन समस्त पकड़ को छोड़ना है। किसी के पक्ष में किसी को नहीं छोड़ना है। बस बिना किसी पक्ष के, निष्पक्ष ही सब पकड़ छोड़ देनी है। पकड़ ही भूल है। वही कुएं में या खाई में गिरा देती है। वही अतियों में और द्वंद्वों में और संघर्षो में ले जाती है। जबकि मार्ग वहां है जहां कोई अति नहीं है, जहां कोई दुई नहीं है, जहां कोई संघर्ष नहीं है। चुनाव न करें, वरन चुनाव करने वाली चेतना में प्रतिष्ठित हों। द्वंद्व में न पड़ें, वरन द्वंद्व को देखने वाले ‘ज्ञान’ में स्थिर हों। उसमें प्रतिष्ठा ही प्रज्ञा है और वह प्रज्ञा ही प्रकाश में जाने का द्वार है। वह द्वार निकट है।
जो अपनी चेतना की लौ को द्वंद्वों की आंधियों से मुक्त कर लेते हैं,
वे उस कुंजी को पा लेते हैं, जिससे सत्य का वह द्वार खुलता है।

030/ शून्यता में ही सागर उतर कर पूर्ण करता है!

मैं मनुष्य को इतना भरा हुआ देखता हूं कि उन पर मुझे बहुत दया आती है। उनमें किंचित भी अवकाश नहीं है, थोड़ा सा भी आकाश नहीं है। जिसमें आकाश नहीं है, वह मुक्त कैसे हो सकता है? मुक्ति के लिए बाहर नहीं, भीतर आकाश चाहिए। जिसमें भीतर आकाश होता है, वह बाहर के आकाश से एक हो जाता है, और अंतस का आकाश जब विश्व के आकाश से एक होता है- वह सम्मिलन, वह संगम, वह संपरिवर्तन ही मुक्ति है। वही ईश्वरानुभव है।
इसलिए मैं किसी को अपने को ईश्वर से भरने को नहीं कहता हूं- वरन सबसे कहता हूं कि अपने को खाली कर लो, और तुम पाओगे कि ईश्वर ने तुम्हें भर दिया है।
वर्षा में जब बदलियां पानी गिराती हैं, तो टीले जल से वंचित ही रह जाते हैं और गड्ढे परिपूरित हो जाते हैं। गड्ढों की तरह बनो, टीलों की तरह नहीं। अपने के भरो मत, खाली करो- और प्रभु की वर्षा तो प्रतिक्षण हो रही है- जो उस जल को अपने में लेने को खाली है, वह भर दिया जाता है।
गागर का मूल्य यही है कि वह खाली है; वह जितनी खाली होती है, सागर उसे उतना ही भर देता है।
मनुष्य का मूल्य भी उतना ही है, जितना कि वह शून्य है, उस शून्यता में
ही सागर उतरता है और उसे पूर्ण करता है।

031/ साधना का साध्य

मैं साधकों को देखता हूं, तो पाता हूं कि वे सब मन को साधने में लगे हैं। मन को साधने से सत्य नहीं मिलता है; विपरीत, वही तो सत्य के अनुभव में अवरोध है। मन को साधना नहीं विसर्जित करना है। मन को छोड़ो तब द्वार मिलता है। धर्म मन में या मन से उपलब्ध नहीं होता है। वह अ-मन की स्थिति में उपलब्ध होता है।

मात्सु साधना में था। वह अपने गुरु-आश्रम के एक एकांत झोपड़े में रहता
और अहर्निश मन को साधने का अभ्यास करता। जो उससे मिलने भी जाते, उनकी ओर भी वह कभी कोई ध्यान नहीं देता था।
उसका गुरु एक दिन उसके झोपड़े पर गया। मात्सु ने उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। पर उसका गुरु दिन भर वहीं बैठा रहा और एक ईंट पत्थर पर घिसता रहा। मात्सु से अंततः नहीं रहा गया और उसने पूछा: ‘आप क्या कर रहे हैं?’ गुरु ने कहा: ‘इस ईंट का दर्पण बनाना है।’ मात्सु ने कहा: ‘ईंट का दर्पण! पागल हुए हैं- जीवन भर भी घिसने से नहीं नहीं बनेगा।’ यह सुन गुरु हंसने लगा और उसने मात्सु से पूछा: ‘तब तुम क्या कर रहे हो? ईंट दर्पण नहीं बनेगी, तो क्या मन दर्पण बन सकता है? ईंट भी दर्पण नहीं बनेगी, मन भी दर्पण नहीं बनेगा। मन ही तो धूल है, जिसने दर्पण को ढांका है। उसे छोड़ो और अलग करो, तब सत्य उपलब्ध होता है।’
विचार संग्रह मन है और विचार बाहर से आये धूलि-कण हैं। उन्हें अलग करना है। उनके हटने पर जो शेष रह जाता है, वह निर्दोष चैतन्य सदा से ही निर्दोष है। निर्विचार में, इस अ-मन की स्थिति में, उस सनातन सत्य के दर्शन होते हैं, जो कि विचारों के धुएं में छिप गया होता है।
विचारों का धुआं न हो तो फिर चेतना की निर्धूम ज्योति-शिखा ही शेष रह जाती है। वही पाना है, वही होना है। साधना का साध्य वही है।

032/ ‘मैं’ अपरिवर्तनीय है!

सुबह थी, फिर दोपहर आयी, अब सूरज डूबने को है। एक सुंदर सूर्यास्त पश्चिम पर फैल रहा है।
मैं रोज दिन को उगते देखता हूं, दिन को छाते देखता हूं, दिन को डूबते देखता हूं। और फिर यह देखता हूं कि न तो मैं उगा, न मैंने दोपहर पायी और न ही मैं अस्त पाता हूं।
कल यात्रा से लौटा तो यही देख रहा था। सब यात्राओं में ऐसा ही अनुभव होता है। राह बदलती है, पर राही नहीं बदलता है। यात्रा तो परिवर्तन है, पर यात्री अपरिवर्तित मालूम होता है।
कल कहां था, आज कहां हूं; कभी क्या था, अब क्या है- पर जो मैं कल था, वही
आज भी हूं, जो मैं कभी था, वही अब भी हूं।
शरीर वही नहीं है, मन वही नहीं है, पर मैं वही हूं।
दिक और काल में परिवर्तन है पर ‘मैं’ में परिवर्तन नहीं है।
सब प्रवाह है पर ‘मैं’ प्रवाह का अंग नहीं है। यह उनमें होकर भी उनसे बाहर और उनके अतीत है।
यह नित्य-यात्री, यह चिर-नूतन, चिर-परिचित यात्री ही आत्मा है।
परिवर्तन के जगत में इस अपरिवर्तित के प्रति जाग जाना ही मुक्ति है।

033/ आत्मज्ञान ही मोक्ष है

मैं तुम्हें देखता हूं: तुम्हारे पार जो है, उसे भी देखता हूं।
शरीर पर जो रुक जाएं वे आंखें देखती ही नहीं हैं। शरीर कितना पारदर्शी है! सच ही, देह कितनी ही ठोस क्यों न हो, उसे तो नहीं ही छिपा पाती है, जो कि पीछे है।
पर, आंखें ही न हों तो दूसरी बात है। फिर तो सूरज भी नहीं है। सब खेल आंखों का है। विचार और तर्क से कोई प्रकाश को नहीं जानता है।
वास्तविक आंख की पूर्ति किसी अन्य साधन से नहीं हो सकती है। आंख चाहिए। आत्मिक को देखने के लिए भी आंख चाहिए, एक अंतर्दृष्टि चाहिए। वह है तो सब है। अन्यथा, न प्रकाश है, न प्रभु है।

जो दूसरे की देह के पार की सत्ता को देखना चाहे, उसे पहले अपनी पार्थिव सत्ता के अतीत झांकना होता है।
जहां तक मैं अपने गहरे में देखता हूं, वहीं तक अन्य देहें भी पारदर्शी
हो जाती हैं।
जितनी दूर तक मैं अपनी जड़ता में चैतन्य का आविष्कार कर लेता हूं, उतनी
ही दूर तक समस्त जड़ जगत मेरे लिए चैतन्य से भर जाता है। जो मैं हूं, जगत भी वही है। जिस दिन मैं समग्रता में अपने चैतन्य को जान लूं, उसी दिन जगत नहीं रह जाता है।
स्व-अज्ञान संसार है; आत्मज्ञान मोक्ष है।
यही रोज कह रहा हूं, यही प्रत्येक से कह रहा हूं: एक बार देखो कि कौन तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है? इस हड्डी-मांस की देह में कौन आच्छादित है? कौन है आबद्ध तुम्हारे इस बाह्य रूप में?
इस क्षुद्र में कौन विराट विराजमान है?
कौन है, यह चैतन्य? क्या है यह चैतन्य?
यह पूछे बिना, यह जाने बिना जीवन सार्थक नहीं है। मैं सब कुछ जान लूं, स्वयं को छोड़कर, तो उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है।
जिस शक्ति से ‘पर’ जाना जाता है, वह शक्ति ‘स्वयं’ को भी जानने में समर्थ है। जो अन्य को जान सकती है, वह ‘स्वयं’ को कैसे नहीं जानेगी!
केवल दिशा-परिवर्तन की बात है।
जो दिख रहा है, उससे उस पर चलना है, जो कि देख रहा है। दृश्य से दृष्टा
पर ध्यान परिवर्तन आत्म-ज्ञान की कुंजी है।
विचार प्रवाह में से उस पर जागो, जो उनका भी साक्षी है।
और एक क्रांति घटित हो जाती है। कोई अवरुद्ध झरना जैसे फूट पड़ा हो, ऐसे ही चैतन्य की धारा जीवन से समस्त जड़ता को बहा ले जाती है।

034/ जड़ से हटते ही पौधे सूख जाते हैं!

कल संध्या तक एक पौधे में प्राण थे। उसकी जड़े जमीन में थी और पत्तों में जीवन था। उसमें हरियाली थी और चमक थी। हवा में वह डोलता था तो उससे आनंद झरता था। उसके पास से मैं अनेक बार गुजरा था और उसके जीवन-संगीत को अनुभव किया था।
फिर कल यह हुआ कि किसी ने उसे खींच दिया, उसकी जड़े हिल गयीं और आज जब मैं उसके पास गया तो पाया कि उसकी सांसे टूट गई हैं। जमीन से हट जाने पर ऐसा ही होता है। सारा खेल जड़ों का है। वे दिखती नहीं, पर जीवन का सारा रहस्य उन्हीं में है।
पौधों की जड़े होती हैं। मनुष्य की भी जड़े होती हैं। पौधों की जमीन है। मनुष्य की भी जमीन है। पौधे जमीन से जड़ें हटाते ही सूख जाते हैं। मनुष्य भी सूख जाता है।
आल्वेयर कामू की एक पुस्तक पढ़ता था। उसकी पहली पंक्ति है कि आत्महत्या एकमात्र महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्या है। क्यों? क्योंकि अब मनुष्य को जीवन में कोई प्रयोजन नहीं मालूम होता है। सब व्यर्थ और निष्प्रयोजन हो गया है।
हुआ यह है कि हमारी जड़े हिल गई हैं; हुआ यह है कि उस मूल जीवन-स्रोत से हमारे संबंध टूट गये हैं, जिसके अभाव में जीवन एक व्यर्थ की कहानी मात्र रह जाता है।
मनुष्य को पुनः जड़ें देनी हैं और मनुष्य को पुनः जमीन देनी है। वे जड़ें आत्मा की हैं और वह जमीन धर्म की है। उतना हो सके तो मनुष्यता में फिर से फूल आ सकते हैं।

035/ जगत के रहस्य का ज्ञान ही मुक्ति है

एक परिवार में आमंत्रित था। संध्य गये ही वहां से लौटा हूं। एक मीठी घटना वहां घटी। बहुत बच्चे उस घर में थे। उन्होंने ताश के पत्तों का एक महल बनाया था। मुझे दिखाने ले गये। सुंदर था। मैंने प्रशंसा की। गृहणी बोली: ‘ताश के पत्तों के महल की भी प्रशंसा! जरा-सा हवा का झोंका सब मिट्टी कर देता है।’
मैं हंसने लगा, तो बच्चों ने पूछा: ‘क्यों हंसते हैं?’ यह बात ही होती
थी कि महल भरभरा कर गिर गया। बच्चे उदास हो गये। गृहणी बोलीः ‘देखा।’ मैंने कहाः ‘देखा, पर मैंने और महल भी देखें हैं, और सब महल ऐसे ही गिर जाते हैं।’ पत्थर के ठोस महल भी पत्तों के ही महल हैं। बच्चों के ही नहीं, बूढ़ों
के महल भी पत्तों के ही महल होते हैं। हम सब महल बनाते हैं- कल्पना और स्वप्नों के महल और फिर हवा का एक झोंका सब मिट्टी कर जाता है। इस अर्थ में हम सब बच्चे हैं। प्रौढ़ होना कभी-कभी होता है। अन्यथा अधिक लोग बच्चे ही मर जाते हैं।
सब महल ताश के महल हैं, यह जानने से व्यक्ति प्रौढ़ हो जाता है। फिर भी
वह उन्हें बनाने में संलग्न हो सकता है, पर तब सब अभिनय होता है।
यह जानना कि जगत अभिनय है, जगत से मुक्त हो जाना है।
इस स्थिति में जो पाया जाता है, वही भर किसी झोंके से नष्ट नहीं होता है।

036/ संन्यास लाया नहीं, पाया जाता है

कल रात्रि पानी पड़ा है। मौसम गीला है और अभी-अभी फिर धीमी फुहार आनी शुरू हुई है। हवाएं नम हो गयी हैं और वृक्षों से गिरते पत्तों को द्वार तक ला रही हैं। लगता है पतझड़ हो रही है और वसंत के आगमन की तैयारी है। रास्ते पत्तों से ढंक रहे हैं और उन पर चलने में सूखे पत्ते मधुर आवाज करते हैं। मैं उन पत्तों को देर तक देखता रहा हूं। जो पक जाता है, वह गिर जाता है। पत्तों पर पत्ते सुबह से शाम तक गिर रहे हैं। पर वृक्षों को उनके गिरने से कोई पीड़ा नहीं हो रही है। इससे जीवन का एक अदभुत नियम समझ में आता है। कुछ भी कच्चा तोड़ने में कष्ट है। पकने पर टूटना अपने से हो जाता है। एक संन्यासी आये हैं। त्याग उन्हें आनंद नहीं बन पाया है। वह कष्ट है
और कठिनाई है। संन्यास अपने से नहीं आया, लाया गया है। मोह के, अज्ञान के, परिग्रह के अहंकार के पत्ते अभी कच्चे थे। जबरदस्ती की है- पत्ते तो टूट गये, पर पीड़ा पीछे छोड़ गये हैं। वह पीड़ा शांति नहीं आने देती है। सोचता हूं कि आज शाम जाकर पके पत्तों के टूटने का रहस्य उन्हें बताऊं। संन्यास पहले नहीं है। ज्ञान है प्रथम। उसकी आंख में संसार पके पत्तों की भांति गिर जाता है। संन्यास लाया नहीं जाता, पाया जाता है।
ज्ञान की क्रांति के बाद त्याग कष्ट नहीं, आनंद हो जाता है।

037/ ज्ञान

ज्ञान और ‘ज्ञान’ में भेद है। एक ज्ञान है- केवल जानना, जानकारी, बौद्धिक समझ। और एक ज्ञान है- अनुभूति, प्रज्ञा, जीवंत प्रतीति। एक मृत तथ्यों का संग्रह है, एक जीवित सत्य का बोध है। दोनों में बहुत अंतर है- भूमि और आकाश का, अंधकार और प्रकाश का। वस्तुतः बौद्धिक ज्ञान कोई ज्ञान ही नहीं है। वह ज्ञान का भ्रम है। क्या अंधे व्यक्ति को प्रकाश का कोई ज्ञान हो सकता है? बौद्धिक ज्ञान वैसा ही ज्ञान है।
ऐसे ज्ञान का भ्रम अज्ञान को ढंक लेता है। वह आवरण मात्र है। उसके शब्दजाल और विचारों के धुएं में अज्ञान विस्मृत हो जाता है। यह अज्ञान से

भी घातक है; क्योंकि अज्ञान दिखता हो तो उससे ऊपर उठने की आकांक्षा तो पैदा होती है। पर वह न दिखे तो उससे मुक्त होना संभव ही नहीं रह जाता है।
तथाकथित ज्ञानी अज्ञान में ही नष्ट हो जाते हैं।
ज्ञान- सत्य-ज्ञान बाहर से नहीं आता है और जो बाहर से आये, जानना कि वह ज्ञान नहीं है, मात्र जानकारी ही है। ऐसे ज्ञान के भ्रम में गिरने से सावधानी रखनी आवश्यक है।
जो भी बाहर से आता है, वह स्वयं पर और परदा बन जाता है।
ज्ञान भीतर से जागता है। वह आता नहीं, जागता है। और उसके लिए परदे बनाने नहीं, तोड़ने होते हैं।
ज्ञान को सीखना नहीं होता है, उसे उघाड़ना होता है। सीखा हुआ ज्ञान जानकारी है, उघड़ा हुआ ज्ञान अनुभूति है।
और जिस ज्ञान को सीखा जाए, उसके अनुसार जीवन को जबरदस्ती ढालना पड़ता
है, फिर भी वह कभी संपूर्णतया उसके अनुकूल नहीं हो पाता है और उस ज्ञान और जीवन में अंर्तद्वंद बना ही रहता है।
पर जो ज्ञान उघाड़ा जाता है, उसके आगमन से ही आचरण सहज उसके अनुकूल हो जाता है। सत्य-ज्ञान के विपरीत जीवन का होना एक असंभावना है। वैसा आज तक धरा पर कभी नहीं हुआ है।
एक कथा स्मरण आती है। एक घने वन के बीहड़ पथ पर दो मुनि थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता पुत्र थे। पुत्र आगे था पिता पीछे। मार्ग था एकदम निर्जन और भयानक। अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा: ‘तुम पीछे आ जाओ, खतरा है।’ पुत्र हंसने लगा; आगे चलता था- आगे चलता रहा। पिता ने दोबारा कहा। सिंह सामने आ गया था। मृत्यु द्वार पर खड़ी थी। पुत्र बोला: ‘मैं शरीर नहीं हूं, तो खतरा कहां है? आप भी तो यही कहते हैं न?’ पिता ने भागते हुए चिल्ला कर कहा: ‘पागल, सिंह की राह छोड़ दे।’ पर पुत्र हंसता ही रहा और बढ़ता ही रहा। सिंह का हमला भी हो गया। वह गिर पड़ा था, पर उसे दिख रहा था कि जो गिरा है, वह ‘मैं’ नहीं हूं। शरीर वह नहीं था, इसलिए उसकी कोई मृत्यु भी नहीं थी। जो पिता कहता था, वह उसे दिख भी रहा था। वह अंतर महान है। पिता दुखी था और दूर खड़े उसकी आंखों में आंसू थे। और पुत्र स्वयं मात्र दृष्टा ही रह गया था। वह जीवन में दृष्टा था, तो मृत्यु में भी दृष्टा था। उसे न दुख था, न पीड़ा। वह अविचल और निर्विकार था, क्योंकि जो भी हो रहा था वह उसके बाहर हो रहा था। वह स्वयं कहीं भी उसमें सम्मिलित नहीं था।
इसलिए कहता हूं ज्ञान और ज्ञान में भेद है।

038/ समाधि

समाधि क्या है?
किसी ने कहा है: बूंद का सागर में मिल जाना।
किसी ने कहा: सागर का बूंद में उतर जाना।
मैं कहता हूं: बूंद और सागर का मिट जाना। जहां न बूंद है, न सागर है, वहां समाधि है। जहां न एक है, न अनेक है, वहां समाधि है। जहां न सीमा है, न असीम है, वहां समाधि है।
समाधि सत्ता के साथ ऐक्य है।
समाधि सत्य है। समाधि चैतन्य है। समाधि शांति है।
‘मैं’ समाधि में नहीं होता हूं, वरन जब ‘मैं’ नहीं होता हूं, तब जो है, वह समाधि है।
और शायद, यह ‘मैं’ जो कि मैं नहीं है, वास्तविक ‘मैं’ है।
‘मैं’ की दो सत्ताएं हैं: अहं और ब्रह्म। अहं वह है, जो मैं नहीं हूं,
पर जो ‘मैं’ जैसा भासता है। ब्रह्मं वह है, जो मैं हूं, लेकिन जो ‘मैं’ जैसा प्रतीत नहीं होता है।
चेतना, शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है।

मैं शुद्ध साक्षी चैतन्य हूं; पर विचार-प्रवाह से तादात्म्य के कारण
वह दिखाई नहीं पड़ता है। विचार स्वयं चेतना नहीं है। विचार को जो जानता है, वह चैतन्य है। विचार का भी जो द्रष्टा है, वह चैतन्य है। विचार विषय है, चेतना विषयी है। विषय से विषयी का तादात्म्य मूर्च्छा है। यही असमाधि है। यही प्रसुप्त अवस्था है।
विचार-विषय के अभाव में जो शेष है, वही चेतना है। इस शेष में ही होना समाधि है।
विचार-शून्यता में जागरण सत्ता के द्वार खोल देता है। सत्ता अर्थात वही ‘जो है’।
उसमें जागो- यही समस्त जाग्रत पुरुषों की वाणी का सार है।

039/ प्रेम और प्रतीक्षा

मैं माली को बीज बोते देखता हूं। फिर, वह खाद देता है। पानी देता है।
और फूलों के आने की प्रतीक्षा करता है। फूल खींचकर जबरदस्ती पौधों से नहीं निकाले जाते हैं। उनकी तो धीरज से प्रतीक्षा करनी होती है।
प्रेम और प्रतीक्षा।
ऐसे ही प्रभु के बीज भी बोने होते हैं। ऐसे ही दिव्य जीवन के फूलों को खिलने की भी राह देखनी होती है।
प्रार्थना और प्रतीक्षा।
जो इसके विपरीत चलता है और अधैर्य प्रकट करता है, वह कहीं भी नहीं पहुंच पाता है। अधैर्य उस विकास के लिए अच्छी खाद नहीं है।
शांति से, धैर्य से और प्रीति से प्रतीक्षा करने पर किसी सुबह अनायास
ही फूल खिल जाते हैं, और उनकी गंध जीवन के आंगन को सुवासित कर देती है। अनंत के फूलों के लिए अनंत प्रतीक्षा अपेक्षित है। पर यह स्मरण रहे
कि जो उतनी प्रतीक्षा के लिए तत्पर होता है, उसकी प्राप्ति का समय तत्क्षण आ जाता है। अनंत धैर्य ही अनंत को पाने की एक मात्र शर्त है। उस शर्त के पूरा होते ही वह उपलब्ध हो जाता है। उसे कहीं बाहर से थोड़ा ही आना है। वह तो भीतर का ही विकास है। वह तो मौजूद ही है। पर अधैर्य और अशांति के कारण हम उसे नहीं देख पाते हैं।

040/ मन और शांति

‘मनुष्य का मन अदभुत है। वही है रहस्य संसार का और मोक्ष का। पाप और पुण्य, बंधन और मुक्ति, स्वर्ग और नर्क सब उसमें ही समाये हुए हैं। अंधेरा और प्रकाश सब उसी का है। उसमें ही जन्म है, उसमें ही मृत्यु है। वही है द्वार बाह्य जगत का, वही है सीढ़ी अंतस की। और उसका ही न हो जाना दोनों के पार हो जाना हो जाता है।’
‘मन सब कुछ है। सब उसकी लीला और कल्पना है। वह खो जाए, तो सब लीला विलीन
हो जाती है।’
कल यही कहा था। कोई पूछने आयाः ‘मन तो बड़ा चंचल है, वह खोये कैसे? मन तो बड़ा गंदा है, वह निर्मल कैसे हो?’
मैंने फिर एक कहानी कहीः बुद्ध जब वृद्ध हो गये थे, तब एक दोपहर एक वन में एक वृक्ष तले विश्राम को रुके थे। उन्हें प्यास लगी तो आनंद पास के पहाड़ी झरने पर पानी लेने गया था। पर झरने से अभी-अभी गाड़ियां निकली थी और उसका सब पानी गंदा हो गया था। कीचड़ ही कीचड़ और सड़े पत्ते उसमें उभर कर आ गये थे। आनंद उसका पानी बिना लिए वापस लौट आया। उसने बुद्ध से कहाः ‘झरने का पानी निर्मल नहीं है, मैं पीछे लौट कर नदी से पानी ले आता हूं।’ नदी बहुत दूर थी। बुद्ध ने उसे झरने का पानी ही लाने को वापस लौटा दिया। आनंद थोड़ी देर में फिर खाली लौट आया। पानी उसे लाने जैसा नहीं लगा। पर बुद्ध ने उसे

इस बार भी वापस लौटा दिया। और तीसरी बार जब आनंद झरने पर पहुंचा तो देखकर चकित हो गया। झरना अब बिल्कुल निर्मल और शांत हो गया था, कीचड़ बैठ गयी थी और जल बिल्कुल निर्मल हो गया था।
यह कहानी मुझे बड़ी प्रीतिकर है। यही स्थिति मन की भी है। जीवन की गाड़ियां उसे विक्षुब्ध कर जाती हैं। पर कोई यदि शांति और धीरज से उसे बैठा देखता रहे, तो कीचड़ अपने से नीचे बैठ जाती है और सहज निर्मलता का आगमन हो जाता है। केवल धीरज की बात है और शांत प्रतीक्षा की और ‘बिना कुछ किये’ मन की कीचड़ बैठ सकती है।
केवल साक्षी होना है और मन निर्मल हो जाता है। मन को निर्मल करना नहीं होता है। करने से ही कठिनाई बन जाती है। उसे तो केवल किनारे पर बैठ कर देखें और फिर देखें कि क्या होता है!

041/ जीवन एक बांसुरी

रात्रि के इस सन्नाटे में कोई बांसुरी बजा रहा है। चांदनी जम गयी-सी लगती है। सर्द एकांत रात्रि और दूर से आते बांसुरी के स्वर। स्वप्न-सा मधुर! विश्वास न हो, इतना सुंदर है, यह सब।
एक बांस की पोंगरी कितना अमृत बरसा सकती है!
जीवन भी बांसुरी की भांति है। अपने में खाली और शून्य, पर साथ ही संगीत की अपरिसीम सामर्थ्य भी उसमें है।
पर सब कुछ बजाने वाले पर निर्भर है। जीवन वैसा ही हो जाता है, जैसा व्यक्ति उसे बनाता है। वह अपना ही निर्माण है। यह तो एक अवसर मात्र है- कैसा गीत कोई गाना चाहता है, यह पूरी तरह उसके हाथों में है। मनुष्य की महिमा यही है कि वह स्वर्ग और नर्क दोनों के गीत गाने को स्वतंत्र है। प्रत्येक व्यक्ति दिव्य स्वर अपनी बांसुरी से उठा सकता है। बस थोड़ी-
सी उंगलियां भर साधने की बात है। थोड़ी-सी साधना और विराट उपलब्धि है। न-कुछ करने से ही अनंत आनंद का साम्राज्य मिल जाता है।
मैं चाहता हूं कि एक-एक हृदय में कह दूं कि अपनी बांसुरी को उठा लो। समय भागा जा रहा है, देखना कहीं गीत गाने का अवसर बीत न जाए! इसके पहले कि परदा गिरे, तुम्हें अपना जीवन-गीत गा लेना है।

042/ ज्ञान और शील

जीवन-साधना में बीज क्या है और फल क्या है, यह जानना अत्यंत अनिवार्य है। प्रारंभ और परिणाम को पहचानना जरूरी है। कार्य और कारण को न जाने हुए जो चलता है, वह भूल करता है। केवल चलना ही पर्याप्त नहीं है। अकेले चलने से ही कोई नहीं पहुंचता है। दिशा और साधना-विधि का सम्यक होना जरूरी है। साधना में केंद्रीय भी कुछ है, परिधिगत भी है। केंद्र पर प्रयास हो तो परिधि अपने से संभल जाती है। उसे पृथक संभालने का कारण नहीं है। वह केंद्र की ही अभिव्यक्ति है, वह फैल हुआ केंद्र है। इससे परिधि पर प्रयास व्यर्थ होते हैं। एक कहावत हैः ‘झाड़ी के आसपास पीटना!’ परिधि पर उलझना ऐसा ही है। क्या है केंद्र, क्या है परिधि?
ज्ञान केंद्र है, शील परिधि है। ज्ञान प्रारंभ है, शील परिणाम है। ज्ञान बीज है, शील फल है। पर साधारणतः लोगों का चलना विपरीत है। शील से चलकर वे ज्ञान पर पहुंचना चाहते हैं। शील को वे ज्ञान में परिणत करना चाहते हैं।

पर शील अज्ञान से पैदा नहीं किया जा सकता। शील पैदा ही नहीं किया जा सकता। पैदा किया हुआ शील, शील नहीं है। वह मिथ्या आवरण है, जिसके तले कुशील दब जाता है। चेष्टित शील वंचना है।
अंधेरे को दबाना-छिपाना नहीं है। उसे मिटाना है। कुशील पर शील के कागजी फूल नहीं चिपकाने हैं। उसे मिटाना है। जब वह नहीं है, तब जो आता है, वह शील है।
अज्ञान में जबरदस्ती लाया गया शील घातक है; क्योंकि उसमें जो नहीं है,
वह ज्ञात होता है कि है। इस भांति जिसे लाना है, उसका आंख से ओझल हो जाना हो जाता है।
अज्ञान में सीधे शील लाने का कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि अज्ञान की अभिव्यक्ति ही कुशील है। कुशीलता अज्ञान ही है। किसी बुद्ध ने कहा हैः ‘अण्णाणी किं काही?’ जो अज्ञान में है, वह क्या कर सकता है?
शील नहीं, ज्ञान लाना है। ज्ञान ही शील बन जाता है।
ज्ञान सर्व को प्रकाशित करता है। उसके उदय से ही अज्ञान और मोह का नाश होता है। उससे ही राग और द्वेष का क्षय होता है। उससे ही मुक्त दशा उपलब्ध होती है।

043/ आनंद और दुख

सुबह एक पत्र मिला है। किसी ने उसमें पूछा है कि ‘जीवन दुख में घिरा है फिर भी आप आनंद की बात कैसे करते हैं? जो है, उसे देखें तो आनंद की बातें कल्पना प्रतीत होती है।’
निश्चय ही जीवन दुख में घिरा है, चारों ओर दुख है; पर जो घिरा है, वह दुख नहीं है। जब तक जो घेरे है, उसे देखते रहेंगे, दुख ही मालूम होगा; पर जिस क्षण उसे देखने लगेंगे, जो कि घिरा है, तो उसी क्षण दुख असत्य हो जाता है और आनन्द सत्य हो जाता है।
कुल दृष्टि-परिवर्तन की बात है। जो दृष्टि दृष्टा को प्रकट कर देती है, वही दृष्टि है। शेष सब अंधापन है। दृष्टा के प्रकट होते ही सब आनंद हो जाता है, क्योंकि आनंद उसका स्वरूप है। जगत फिर भी रहता है, पर दूसरा हो जाता है। आत्म-अज्ञान के कारण उसमें जो कांटे मालूम हुए थे, वे अब कांटे नहीं मालूम होते हैं।
दुख की सत्ता वास्तविक नहीं है, क्योंकि परावर्ती अनुभव से वह खंडित
हो जाती है। जागने पर जैसे स्वप्न अवास्तविक हो जाता है, वैसे ही स्व-बोध पर दुख खो जाता है।
आनंद सत्य है, क्योंकि वह स्व है।

044/ दिव्य प्यास

कल एक जगह बोला हूं।
कहा: मैं तुम्हें असंतुष्ट करना चाहता हूं। एक दिव्य प्यास, एक अलौकिक अतृप्ति सब में पैदा हो, यही मेरी कामना है। मनुष्य जो है, उसमें तृप्त रह जाना मृत्यु है। मनुष्य विकास का अंत नहीं है। एक विकास-सोपान है। जो उसमें प्रकट है, वह अप्रकट की तुलना में कुछ भी नहीं है। जो वह है, वह उसकी तुलना में जो कि वह हो सकता है, कुछ न होने के बराबर ही है।
धर्म, तृप्ति की इस मृत्यु से, प्रत्येक को अतृप्ति के जीवन में जगाना चाहता है। क्योंकि उस अतृप्ति से ही उस बिंदु तक पहुंचना हो सकता है, जहां कि वास्तविक संतृप्ति है।
मनुष्य को मनुष्यता का अतिक्रमण करना है।
यह अतिक्रमण ही उसे दिव्यता में प्रवेश देता है।
यह अतिक्रमण कैसा होगा?

एक परिभाषा को समझें तो अतिक्रमण की प्रक्रिया भी समझ में आ जाती है।
पशुता- विचार-प्रकिया के पूर्व की स्थिति।
मनुष्यता- विचार-प्रक्रिया की स्थिति।
दिव्यता- विचार-प्रक्रिया के अतीत की स्थिति।
विचार-प्रक्रिया के घेरे के पार चलें, तो चेतना दिव्यता में पहुंच जाती है।
विचार-प्रक्रिया को पार करना मनुष्यता का अतिक्रमण कर जाना है।

045/ प्रकृति ही परमात्मा

मैं प्रकृति में ही परमात्मा को देखता हूं। प्रतिक्षण, प्रतिघड़ी उसका मुझे अनुभव हो रहा है। एक श्वास भी ऐसी नहीं आती-जाती है, जब उससे मिलन न हो जाता हो। जहां भी आंख पड़ती है, देखता हूं कि वह उपस्थित है। और जहां भी कान सुनते हैं, पाता हूं कि उसका ही संगीत बज रहा है।
वह तो सब जगह है, केवल उसे देखना भर आने की बात है। वह तो है, पर उसे पकड़ने के लिए आंख चाहिए। आंख के आते ही वह सब दिशाओं में और सब समयों में उपस्थित हो जाता है।
रात्रि में जब आकाश तारों से भर जाए, तो उन तारों को सोचो मत, देखो। और सागर के वक्ष पर जब लहरें नाचती हों, तो उन लहरों को सोचो मत, देखो। और कली जब फूल बनती हो, तो देखो, और केवल देखो। विचार न हो और मात्र दर्शन हो, तो एक बड़ा राज खुल जाता है, और प्रकृति के द्वार से उस रहस्य में प्रवेश होता है, जो कि परमात्मा है। प्रकृति परमात्मा के आवरण से ज्यादा कुछ भी नहीं है, और जो उसके घूंघट को उठाना जानते हैं, वे ही केवल जीवन के सत्य से परिचित हो पाते हैं।
सत्य का एक युवा खोजी किसी सदगुरू के पास गया था। उसने जाकर पूछाः ‘मैं सत्य को जानना चाहता हूं, मैं धर्म को जानना चाहता हूं। कृपा करें और मुझे बतायें कि मैं कहां से प्रारंभ करूं?’ सदगुरू ने कहाः ‘क्या पास ही पर्वत से गिरते जलप्रपात की ध्वनि सुनाई पड़ रही है?’ उस युवक ने कहाः ‘मैं उसे भली-भांति सुन रहा हूं।’ सदगुरू बोलेः ‘तब वहीं से प्रारंभ करो, वहीं से प्रवेश करो।; ज्ीमद मदजमत तिवउ जीमतमण्द्ध वही द्वार है।’
सच ही प्रवेश-द्वार इतना ही निकट है- पहाड़ से गिरते झरनों में, हवाओं में डोल रहे वृक्षों के पत्तों में, सागर पर नाच रही सूरज की किरणों में। पर हर प्रवेश-द्वार पर परदा है, और बिना उठाये वह नहीं उठता है। और वस्तुतः वह परदा प्रवेश-द्वारों पर नहीं है, वह हमारी दृष्ट पर ही है और इस भांति एक परदे ने अनंत द्वारों पर परदा कर दिया है।

046/ ईश्वर हमारा ‘स्व’

चांद ऊपर उठ रहा है। दरख्तों को पार करता उसका मद्धिम प्रकाश रास्ते
पर पड़ने लगा है। और आम्र-फूलों की भीनी गंध से हवाएं सुवासित हो रही हैं। मैं एक विचार-गोष्ठी से लौटा हूं। जो थे वहां, अधिकतर युवक थे। आधुनिकता से प्रभावित और उत्तेजित। अनास्था ही जैसे उनकी आस्था है, निषेध स्वीकार है। उनमें से एक ने कहा: ‘मैं ईश्वर को नहीं मानता हूं, मैं स्वतंत्र हूं।’ इस एक पंक्ति में तो युग की मनःस्थिति ही प्रतिबिंबित है।
सारा युग इस स्वतंत्रता की छाया में है, बिना यह जाने कि स्वतंत्रता आत्महत्या है।
क्यों है यह आत्महत्या? क्योंकि अपने को अस्वीकार किए बिना ईश्वर को अस्वीकार करना असंभव है।
एक कहानी मैंने उनसे कही:

ईश्वर के भवन पर फैली एक अंगूर की बेल थी। वह फैलते-फैलते, बढ़ते-बढ़ते, आज्ञा मानते-मानते थक गयी थी। उसका मन परतंत्रता से ऊब गया था और फिर एक दिन उसने भी स्वतंत्र होना चाहा था। वह जोर से चिल्लाई थी कि सारा आकाश सुन ले: ‘मैं अब बढ़ूंगी नहीं!’
‘मैं अब बढ़ूंगी नहीं!’
‘मैं अब बढ़ूंगी नहीं!’
यह विद्रोह निश्चय ही मौलिक था, क्योंकि स्वभाव के प्रति ही था।
ईश्वर ने बाहर झांक कर कहाः ‘न बढ़ो, बढ़ने की आवश्यकता ही क्या है?’ बेल खुश हुई; विद्रोह सफल हुआ था। वह न बढ़ने के श्रम में लग गयी। पर बढ़ना न रुका, न रुका। वह न बढ़ने में लगी रही और बढ़ती गयी और ईश्वर यह पूर्व से ही जानता था।
यही स्थिति है। ईश्वर हमारा स्वभाव है। वह हमारा आंतरिक नियम है। उससे दूर नहीं जाया जा सकता है। वह हुए बिना कोई मार्ग नहीं है। कितना ही अस्वीकार करें, कितना ही स्वतंत्र होना चाहें उससे, पर उससे मुक्ति नहीं है, क्योंकि वह हमारा स्व है। वस्तुतः, वह ही है और हम कल्पित हैं। इसलिए कहता हूं: उससे नहीं, उसमें ही मुक्ति है।

047/ स्वयं में डूबो

एक राजा ने किसी सामान्यतः स्वस्थ और संतुलित व्यक्ति को कैद कर लिया था- एकाकीपन का मनुष्य पर क्या प्रभाव होता है, इस अध्ययन के लिए। वह व्यक्ति कुछ समय तक चीखता-चिल्लाता रहा। बाहर जाने के लिए रोता था, सिर पटकता था- उसकी सारी सत्ता जो बाहर थी। सारा जीवन तो ‘पर’ से, अन्य बंधा था। अपने में तो वह कुछ भी नहीं था। अकेला होना, न होने के ही बराबर था।
और सच ही वह धीरे-धीरे टूटने लगा। उसके भीतर कुछ विलीन होने लगा, चुप्पी आ गयी। रूदन भी चला गया। आंसू भी सूख गये और आंखें ऐसे देखने लगीं, जैसे पत्थर की हों। वह देखता हुआ भी लगता जैसे नहीं देख रहा है।
दिन बीते, माह बीते, वर्ष बीत गया। उसकी सुख-सुविधा की सब व्यवस्था थी। जो उसे बाहर उपलब्ध नहीं था, वह सब कैद में उपलब्ध था। शाही आतिथ्य जो था! लेकिन वर्ष पूरा होने पर विशेषज्ञों ने कहाः ‘वह पागल हो गया है।’
ऊपर से वह वैसा ही था। शायद ज्यादा ही स्वस्थ था, लेकिन भीतर?
भीतर एक अर्थ में वह मर ही गया था।
मैं पूछता हूंः क्या एकाकीपन किसी को पागल कर सकता है? एकाकीपन कैसे पागल करेगा? वस्तुतः पागलपन तो पूर्व से ही है। बाह्य संबंध उसे छिपाये थे। एकाकीपन उसे अनावृत कर देता हैं।
मनुष्य की अपने को भीड़ में खोने की अकुलाहट उससे बचने के लिए ही है। प्रत्येक व्यक्ति इसलिए ही स्वयं से पलायन किये हुए है। पर यह पलायन स्वास्थ नहीं कहा जा सकता है। तथ्य को न देखना, उससे मुक्त होना नहीं है। जो नितांत एकाकीपन में स्वस्थ और संतुलित नहीं है, वह धोखे में है। यह आत्मवंचन कभी न कभी खंडित होगी ही। और वह जो भीतर है, उसे उसकी परिपूर्ण नग्नता में जानना होगा। यह अपने आप अनायास हो जाये तो व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न और विक्षिप्त हो जाता है। जो दमित है, वह कभी न कभी विस्फोट को भी उपलब्ध होगा।
धर्म इस एकाकीपन में स्वयं उतरने का विज्ञान है। क्रमशः एक-एक परत उघाड़ने पर अदभुत सत्य का साक्षात होता है। धीरे-धीरे ज्ञात होता है कि वस्तुतः हम अकेले ही हैं। गहराई में, आंतरिकता के केंद्र पर प्रत्येक एकाकी है। और उस एकाकीपन से परिचित न होने के कारण भय मालूम होता है। अपरिचय और अज्ञान भय देता है। परिचित होते ही भय की जगह अभय और आनंद ले लेता है। एकाकीपन के घेरे में स्वयं सच्चिदानंद विराजमान है।

अपने में उतरकर स्वयं प्रभु को पा लिया जाता है। इससे कहता हूं: अकेलेपन से, अपने से भागो मत, वरन अपने में डूबो। सागर में डूब कर ही मोती पाये जाते हैं।

048/ उधार ज्ञान

रात्रि पानी गिरा है। सड़कें भीगी हुई हैं। हवाएं आर्द्र हैं और आकाश में अब भी बादल हैं। लगता है कि सूरज नहीं निकलेगा। सुबह बड़ी उदास लग रही है।
एक युवक आये हैं। बहुत पढ़-लिख रखा है, ऐसा मालूम होता है। बातों में किताबों ही किताबों की गंध है। यह गंध कितनी ऊब पैदा करती है!
मैं उन्हें सुनता हूं, वैसे वे ही मुझे सुनने आये थे। एक घंटा बोलते रहे हैं, पर जो कहा है, सब पराया है। हमारी आज की शिक्षा यही यांत्रिकता ला रही है। वह सृजनात्मक नहीं है। विचार का नहीं, उससे केवल स्मृति का ही जन्म होता है। विचार तो मिल जाते हैं, पर विचार-शक्ति नहीं मिलती। यह स्थिति बहुत घातक है। इससे अपना व्यक्तित्व और विचार, अपनी स्वानुभूति का कोई विकास नहीं हो पाता है। व्यक्ति केवल यंत्र की तरह दूसरों को दोहराता है।
वह शिक्षा वास्तविक नहीं है, जो केवल स्मृति को ही भरती है। ऐसी शिक्षा, शिक्षा का आभास मात्र ही है। शिक्षा से तो उस अंतरदृष्टि का जन्म होना चाहिए, जो स्वयं समस्याओं को देखने में समर्थ होती है। समस्याऐं मेरी हैं तो समाधान दूसरों के काम नहीं दे सकते हैं। और फिर प्रत्येक समस्या इतनी नयी है कि कोई भी पुराना समाधान उसके लिए समाधान नहीं हो सकता है।
शिक्षा से हमारे भीतर जो प्रसुप्त शक्ति है- मेधा है, उसका जागरण होना चाहिए, न कि हमें केवल उन विचारों से भर दिया जाना चाहिए, जो कि न हमने जीये हैं और न जानें हैं, जो कि हमारे लिए एकदम मृत हैं। और जिनसे केवल हमारा भार ही बढ़ सकता है। इस मृत-भार के नीचे मेधा का जागरण असंभव हो जाता है। मैं रोज अपने चारों ओर ऐसे लोगों को देख रहा हूं जो कि उन विचारों के बोझ से दबे जा रहे हैं, जो कि उन्होंने जाने नहीं, स्वीकार कर लिये हैं। वह विचार जो स्वयं नहीं जाना गया है, अनिवार्यतः भार बन जाता है।
शिक्षा विचारों का निष्क्रिय स्वीकार नहीं होना चाहिए। वह तो सक्रिय समझ और सृजनात्मक बोध पर आधारित हो तो ही सार्थक है।
मैं इन बातों में उन युवक को भूला ही जा रहा हूं। वे जब अपने- जो कि जरा
भी अपने नहीं हैं- विचारों को बोलकर चुप हुए, तो उन्होंने गौरव से चारों ओर इस भाव से देखा कि ‘मैं भी जानता हूं’।
ज्ञान कितना कठिन पर ज्ञान का अहंकार कितना आसान है!
ज्ञान तो नहीं आ पाता है, पर अहंकार अवश्य आ जाता है। और स्मरण रहे कि
वे दोनों बिल्कुल ही विपरीत आयाम हैं। ज्ञान तो अहंकार की मृत्यु है। और जहां वह हो, वहा जाना जा सकता है कि ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान के अभाव की पर्याप्त सूचना है।
ज्ञान अहंकार-शून्यता है। व्यक्ति जितना जानता है, उतना ही उसे अज्ञान का बोध प्रगाढ़ होता जाता है। ज्ञान रहस्य को मिटाता नहीं, खोलता है। और उस क्षण जब जगत का और स्वयं का संपूर्ण रहस्य सामने होता है- ज्ञान के उस उत्ताप बिंदु पर- व्यक्ति शून्य हो जाता है और उसका समस्त अहं-बोध विसर्जित हो जाता है। अहंकार अज्ञान के अंधकार की उत्पत्ति था, ज्ञान के प्रकाश में वह मर जाता है।
मैं थोड़ी देर चुप रहा और उनसे कहा: मैं आपको सुनना चाहता था, पर आप तो कुछ कहते ही नहीं हैं। यह जो कहा, इसमें कुछ भी आपका नहीं है। यह सब तो उधार है। और पराये से समृद्धि नहीं आती है। उससे दरिद्रता ढंक सकती है, पर मिटती नहीं है। सत्य के संबंध में केवल अपनी ही अनुभूति सत्य और जीवित होती है। वह हो तो जीवन में क्रांति हो जाती है, अन्यथा सत्य के संबंध में

मृत, पराये विचार ढोने से कुछ भी नहीं आता है। उससे केवल बोझ ही बढ़ता है और स्वानुभव की संभावना दूर हो जाती है।
ज्ञान जो अपना नहीं है, उस ज्ञान के उदय में बाधा बन जाता है जो कि केवल अपना ही हो सकता है।

049/ शून्य ही हमारा स्वरूप है

संध्या रुकी सी लगती है। पश्चिमोन्मुख सूरज देर हुए बादलों में छुप गया है, पर रात्रि अभी नहीं हुई है। एकांत है- बाहर भी, भीतर भी। अकेला हूं- कोई बाहर नहीं है, कोई भीतर नहीं है। मैं इस समय कहीं भी नहीं हूं या कि वहां हूं, जहां शून्य है। और जब मन शून्य होता है, तो होता ही नहीं है। यह मन अदभुत है। प्याज की गांठ की तरह अनुभव होता है। एक दिन प्याज को देख कर यह स्मरण आया था। उसे छीलता था; छीलता गया- परतों पर परतें निकलती गयीं और फिर हाथ में कुछ भी न बचा। मोटी खुरदरी परतें, फिर मुलायम चिकनी परतें और फिर कुछ भी नहीं। मन भी ऐसा ही है: उघाड़ते चलें- स्थूल परतें, फिर सूक्ष्म परतें, फिर शून्य। विचार, वासनाएं और अहंकार और बस, फिर कुछ भी नहीं है, फिर शून्य है। इस शून्य को उघाड़ लेने को ही मैं ध्यान कहता हूं। यह शून्य ही हमारा स्वरूप है। वह जो अंततः शेष बचा रहता है, वही स्वरूप है। उसे आत्मा कहें, चाहे अनात्मा। शब्द से कुछ अर्थ नहीं है। विचार, वासना, अहंकार जहां नहीं है, वहीं वह है- ‘जो है।’ ह्यूम ने कहाः ‘जब भी मैं अपने में जाता हूं, कोई ‘मैं’ मुझे वहां नहीं मिलता है- या तो विचार से टकराता हूं, या किसी वासना से या किसी स्मृति से। पर स्वयं से कोई मिलना नहीं होता है।’ यह बात ठीक ही है। पर ह्यूम परतों ही से लौट आते हैं। यही उनकी भूल है। वे थोड़ा और गहरे जाते, तो वहां पहुंच जाते जहां कि टकराने को कुछ भी नहीं है। वही है स्वरूप। जहां टकराने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता है, वहां वह है, जो मैं हूं। उस शून्य पर ही सब खड़ा है, पर यदि कोई सतह से ही लौट आये, तो उससे परिचय नहीं हो पाता है। सतह पर संसार है, केंद्र में स्व है। सतह पर सब है, केंद्र पर शून्य है।

050/ मैं का बोध

धूप में घूम कर लौटा हूं। सर्दियों की कुनकुनी धूप कितनी सुखद मालूम होती है। सूरज निकला ही है और किरणों की गरमाहट आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ रही है।
एक व्यक्ति साथ थे। मैं राह भर चुप रहा, पर वे बोलते ही रहे। सुनता था
तो एक बात ध्यान में आयी कि हम कितनी बार ‘मैं’ का प्रयोग करते हैं। इस ‘मैं’ के केंद्र से ही सब जुड़ा रहता है। जन्म के बाद संभवतः ‘मैं’ का बोध सबसे पहले उठता है और मृत्यु के समय सबसे अंत में यह जाता है। इन दो छोरों के बीच में भी उसका ही विस्तार होता है।
इतना सुपरिचित यह ‘मैं’ है, पर कितना अज्ञात भी है! इससे अधिक रहस्यमय शब्द मानवीय भाषा में दूसरा नहीं है।
जीवन बीत जाता है, पर ‘मैं’ का रहस्य शायद ही उघड़ पाता हो!
यह ‘मैं’ कौन है? इसे अस्वीकार करना भी संभव नहीं है। निषेध में भी यह प्रस्तावित हो जाता है। ‘मैं नहीं हूं’ कहने में भी वह उपस्थित हो जाता है। मानवीय बोध में यह ‘मैं’ सबसे सुनिश्चित और अंसदिग्ध तत्व है।
‘मैं हूं’- यह बोध तो है, पर ‘मैं कौन हूं?’- यह सहज ज्ञान नहीं है। इसे जानना साधना से ही सुलभ है। समस्त साधना ‘मैं’ को जानने की साधना है। समस्त धर्म, समस्त दर्शन इस एक प्रश्न के ही उत्तर हैं।
‘मैं कौन हूं?’ इसे प्रत्येक को अपने से पूछना है। सब छूट जाए और एक प्रश्न ही रह जाये। सारे मन पर गूंजती यह एक जिज्ञासा ही रह जाये। तो ऐसे

यह प्रश्न अचेतन में उतर जाता है। प्रश्न जैस-जैसे गहरा होने लगता है, वैसे-वैसे सतही तादात्म्य टूटने लगते हैं। दिखने लगता है कि मैं शरीर नहीं हूं। दिखने लगता है कि मैं मन नहीं हूं। दिखने लगता है कि मैं तो वह हूं, जो सबको देख रहा है। द्रष्टा हूं मैं, साक्षी हूं मैं। यह अनुभूति ‘मैं’ के वास्तविक स्वरूप का दर्शन बन जाती है। शुद्ध-बुद्ध, द्रष्टा- चेतना का साक्षात हो जाता है।
इस सत-ज्ञान के उदय से जीवन के रहस्य का द्वार खुलता है। अपने से परिचित होकर हम जगत के समस्त रहस्य से परिचित हो जाते हैं। ‘मैं’ का ज्ञान ही प्रभु का ज्ञान बन जाता है। इसलिए कहता हूं कि यह ‘मैं’ बहुमूल्य है। इसकी परिपूर्ण गहराई में उतर जाना, सब-कुछ पा लेना है।

051/ भागवत-चैतन्य का विज्ञान है--धर्म

रात्रि की शांति में नगर सो गया है। एक अतिथि को साथ लेकर मैं घूम कर लौटा हूं। मार्ग में बहुत बातें हुई हैं। अतिथि अनात्मवादी हैं। विद्वान हैं और खूब पढ़ा-लिखा है। बहुत तर्क उन्होंने इकटं्ठे किये हैं। मैंने वह सब शांत हो सुना है। और फिर सिर्फ एक ही बात पूछी है कि क्या इन सारे विचारों से शांति और आनंद उन्हें उपलब्ध हो रहा है?
इस पर वे थोड़ा सकुचा गये हैं और उत्तर नहीं खोज पाए हैं।
सत्य की कसौटी तर्क नहीं है। सत्य की कसौटी विचार नहीं है। सत्य की कसौटी है आनंदानुभूति। विचार-सारणी सम्यक हो, तो परिणाम में जीवन आनंद-चेतना से भर जाता है। इस स्थिति को ही पाने के लिए सब विचार हैं और जो विचार-दर्शन यहां नहीं ले आता, वह अविचार ही ज्यादा है। इससे, मैंने उनसे कहा, ‘मैं आपकी बातों का विरोध नहीं करता हूं। बस, आपसे ही- अपने आपसे यह प्रश्न पूछने की विनय करता हूं।’
धर्म विचार नहीं है। वह तो भागवत-चैतन्य उपलब्ध करने का एक विज्ञान मात्र है। उसकी परीक्षा विवाद में नहीं, प्रयोग में है। वह सत्य-निर्णय नहीं, सत्य-साधना और सिद्धि है।

052/ चेतना को पहचानो

एक झोंपड़े में बैठा हूं। छप्पर की रंध्रों से सूरज का प्रकाश गोल चकतों में फर्श पर पड़ रहा है। उनमें उड़ते धूलिकण दिख रहे हैं। प्रकाश के वे अंग नहीं हैं, पर उन्होंने प्रकाश को धूमिल कर दिया है। वे प्रकाश को छू भी नहीं सकते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त भिन्न और विजातीय हैं; फिर भी प्रकाश उनके कारण मैला हो गया दिखता है। प्रकाश तो अब भी प्रकाश है। उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं पड़ा है। पर उसकी देह- उसकी अभिव्यक्ति अशुद्ध हो गई है। इन विजातीय अतिथियों के कारण आतिथेय बदला हुआ दिख रहा है।
ऐसे ही मनुष्य की आत्मा के साथ भी हुआ है। उसमें भी बहुत से विजातीय धूलिकण अतिथि बन गये हैं और इन धूलि-कणों में उसका जो स्वरूप है, वह छिप गया है। आतिथेय जैसे बहुत अतिथियों में खो जाये और पहचाना न जा सके, ऐसा ही हो गया है।
पर जो जीवन से परिचित होना चाहते हैं और सत्य का साक्षात करना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि वे अतिथियों की भीड़ में उसे पहचानें जो कि अतिथि नहीं है और गृहपति है। इस गृहपति के जाने बिना जीवन एक निद्रा है।
उसकी पहचान से ही जागरण का प्रारंभ होता है।
वह पहचान ही ज्ञान है। उस पहचान से उससे परिचय होता है, जो कि नित्य शुद्ध-बुद्ध है।
प्रकाश धूलिकणों से अशुद्ध नहीं होता है, न ही आत्मा होती है।
प्रकाश धूमिल हो जाता है, आत्मा विस्मृत हो जाती है।

आत्मा के प्रकाश पर कौन सी धूल है?
वह सब जो भी मुझ में बाहर से आया है- वह सब धूल है। उसके अतिरिक्त जो मुझ में है, वही मेरा स्वरूप है। इंद्रियों से जो भी उपलब्ध और संग्रहीत हुआ है, वह सब धूल है।
ऐसा क्या है मुझमें, जो इंद्रियों से उपलब्ध नहीं है? रूप, रस, गंध, ध्वनि- इनके अतिरिक्त और मुझमें क्या है?
वह सत्य हैः चेतना- जो कि इंद्रियों से गृहीत नहीं है।
वह इंद्रियों से नहीं आयी है- वरन उनके पीछे है।
यह चेतना ही मेरा स्वरूप है, शेष सब विजातीय धूल है। वही गृहपति है, शेष सब अतिथि हैं। इस चेतना को ही जानना और उघाड़ना है। उसमें ही उस संपदा की उपलब्धि होती है, जो कि अविनश्वर है।

053/ मृत्यु और जीवन

भोर का आखिरी तारा डूब रहा है। कुहासे में ढंकी सुबह का जन्म होने को है। पूरब पर प्रसव की लाली फैल गयी है।
एक मित्र ने अपने किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर दी है। रात्रि ही देह
से उनका संबंध टूटा है। फिर थोड़ी देर की चुप्पी के बाद वे मृत्यु पर बात करने लगे हैं। बहुत-सी बातें और अंत में उन्होंने पूछाः ‘रोज मृत्यु होती है, फिर भी प्रत्येक ऐसे जीता जाता है कि जैसे उसे नहीं मरना है! यह समझ में ही नहीं आता है कि मैं भी मर सकता हूं। इतनी मृत्यु के बीच, यह अमृत्व का विश्वास क्यों है?’
यह विश्वास बहुत अर्थपूर्ण है। यह इसलिए है कि मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है। मृत्यु की परिधि है, पर केंद्र पर मृत्यु नहीं है।
वह जो देख रहा है- देह-मन का दृष्टा- वह जानता है कि मैं देह और मन से पृथक हूं। वह मर्त्य का दृष्टा, मर्त्य नहीं है। वह जान रहा हैः ‘मेरी मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल देह-परिवर्तन है। मैं नित्य हूंः सब मृत्युओं को पार करके भी मैं अमृत शेष रह जाता हूं।’
पर यह बोध अचेतन है, इसे चेतन बना लेना ही मुक्त हो जाना है। मृत्यु प्रत्यक्ष दिखती है, अमृत का बोध परोक्ष है- उसे भी जो प्रत्यक्ष बना लेता है, वह जान लेता है उसे- जिसका न जन्म है, न मृत्यु है।
वह जीवन- जो जीवन और मृत्यु के अतीत है- पा लेना ही मोक्ष है। वह प्रत्येक के भीतर है, उसे केवल जानना भर है।
एक साधु से किसी ने पूछा था, ‘मृत्यु क्या है और जीवन क्या है?-यह जानने आपके पास आया हूं।’ उस साधु ने प्रत्युत्तर में जो कहा, वह अदभुत है। उसने कहा था, ‘तब कहीं और जाओ। मैं जहां हूं, वहां न मृत्यु है, न जीवन है।’

054/ विजय पथ

मैंने कल कहा हैः मिट्टी फूल बन जाती है। और गंदगी खाद बनकर सुगंध में परिणत हो जाती है। ऐसे ही मनुष्य के विकार हैं। वे शक्तियां हैं। जो मनुष्य में पशु जैसा दिखता है, वही दिशा परिवर्तित होने पर दिव्यता को उपलब्ध हो जाते हैं।
इसलिए अदिव्य भी बीजरूप में दिव्य है। और तब वस्तुतः अदिव्य कुछ भी नहीं हैं। समस्त जीवन दिव्यता है। सब कुछ दिव्य है। भेद केवल उस दिव्यता की अभिव्यक्ति के हैं।
और ऐसा देखने पर कुछ भी घृणा करने योग्य नहीं रह जाता है। जो एक छोर पर पशु है, वही दूसरे छोर पर प्रभु है। पशुता और दिव्यता में विरोध नहीं, विकास है। ऐसी पृष्ठभूमि में चलने पर आत्म-दमन और उत्पीड़न व्यर्थ है। यह

संघर्ष अवैज्ञानिक है। अपने को दो में तोड़कर कोई भी आत्म-शांति और ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकता है।
जो मैं ही हूं, उसके एक अंश को नष्ट नहीं किया जा सकता। वह दब सकता है, लेकिन जिसका दमन किया गया है, उसका निरंतर दमन करना होता है। जो हराया गया है, उसे निरंतर हराना होता है। विजय उस मार्ग से कभी पूर्ण नहीं हो पाती है।
विजय का पथ दूसरा है। वह दमन का नहीं, ज्ञान का है। वह गंदगी को हटाने
का नहीं है, क्योंकि वह गंदगी भी मैं ही हूं। वह उसे खाद बनाने का है। इसे ही पुरानी अलकेमी में ‘लोहे को स्वर्ण बनाना’ कहा गया है।

055/ भय

महावीर ने पूछा हैः ‘श्रमणो, प्राणियों को भय क्या है?’
कल कोई यही पूछता था और कोई पूछे या न पूछे, प्रश्न तो यही प्रत्येक की आंखों में है। शायद यह सनातन प्रश्न है और शायद यह अकेला ही प्रश्न है, जो पूछना सार्थक भी है।
प्रत्येक भयभीत है। ज्ञात में, अज्ञात में भय सरक रहा है।
उठते-बैठते, सोते-जागते भय बना हुआ है। प्रत्येक क्रिया में, व्यवहार में, विचार में भय है। प्रेम में, घृणा में, पुण्य में, पाप में- सब में भय है। जैसे हमारी पूरी चेतना ही भय से निर्मित है। हमारे विश्वास, धारणाएं, धर्म और ईश्वर भय के अतिरिक्त और क्या हैं?
यह भय क्या है? भय के अनेक रूप हैं, पर भय एक ही है। वह मृत्यु है। यह मूल भय है। मिटने की, न हो जाने की संभावना ही समस्त भय के मूल में है। भय अर्थात न हो जाने की, मिटने की आशंका। इस आशंका से बचने का प्रयास पूरे जीवन चलता है। सब प्रयास इस मूल असुरक्षा से बचने को हैं।
पर पूरे जीवन दौड़कर भी ‘होना’ सुनिश्चित नहीं हो पाता है। दौड़ हो जाती
है समाप्त- असुरक्षा वैसी ही बना रहती है। जीवन हो जाता है पूरा और मृत्यु टल नहीं पाती है। तब ज्ञात होता है कि जीवन जैसा था ही नहीं, केवल मृत्यु विकसित हो रही थी। जन्म और मृत्यु जैसे मृत्यु के ही दो छोर थे।
यह मृत्यु का भय क्यों है? मृत्यु तो अज्ञात है। वह तो अपरिचित है। उसका भय कैसे होगा? जो ज्ञात ही नहीं है, उससे संबंध भी क्या हो सकता है? वस्तुतः जिसे हम मृत्यु का भय कहते हैं, वह मृत्यु का न होकर, जिसे हम जीवन जीवन जानते हैं, उसके खोने का डर है। जो ज्ञात है, उसके खोने का भय है। जो ज्ञात है, उससे हमारा तादात्म्य है। वह हमारा होना बन गया है। वही हमारी सत्ता बन गयी है। मेरा शरीर, मेरी संपत्ति, मेरी प्रतिष्ठा, मेरे संबंध, मेरे संस्कार, मेरे विश्वास, मेरे विचार- यही मेरे ‘मैं’ के प्राण बन गये हैं। यही ‘मैं’ हो गया है। मृत्यु इस ‘मैं’ को छीन लेगी। यही भय है।
इस सबको इकट्ठा किया जाता है भय से बचने को, सुरक्षा पाने को और होता उलटा है- इसे खोने की आशंका ही भय बन जाती है। मनुष्य साधारणतः जो भी करता है, वह सब जिसके लिए किया जाता है, उसके विपरीत चलता है।
आज्ञान से आनंद के लिए उठाये गये सब कदम दुख में ले जाते हैं। अभय के लिए चला गया रास्ता, और भय में ले जाता है। जो ‘स्व’ की प्राप्ति मालूम होती है, वह ‘स्व’ नहीं है। यदि इस सत्य के प्रति जागना हो जाये- यदि मैं यह जान सकूं कि जिसे मैंने ‘मैं’ जाना है, वह ‘मैं’ नहीं हूं और इस क्षण भी मेरे तादात्म्यों से मैं भिन्न और पृथक हूं, तो भय विसर्जित हो जाता है। मृत्यु में जो ‘पर’ है, वही खोता है।
इस सत्य को जानने के लिए कोई क्रिया, कोई उपाय नहीं करना है। केवल उन-
उन तथ्यों को जानना है, उन-उन तथ्यों के प्रति जागना है, जिन्हें मैं समझता हूं कि ‘मैं’ हूं- जिनसे मेरा तादात्म्य है। जागरण तादात्म्य तोड़ देता है। जागरण ‘स्व’ और ‘पर’ को पृथक कर देता है। ‘स्व’ और ‘पर’ का तादात्म्य भय है। और उनका पृथक बोध भय-मुक्ति है- अभय है।

056/ शून्य के लिए ही मेरा आमंत्रण

एक साधु ने अपने आश्रम के अंतःवासियों को जगत के विराट विद्यालय में अध्ययन के लिए यात्रा को भेजा था। समय पूरा होने पर वे सब, केवल एक को छोड़कर, वापस लौट आये थे। उनके ज्ञानार्जन और उपलब्धियों को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुआ था। वे बहुत कुछ सीख कर वापस लौटे थे। फिर अंत में पीछे छूट गया युवक भी लौट आया। गुरु ने उससे कहाः ‘निश्चय ही तुम सबसे बाद में लौटे हो, इसलिए सर्वाधिक सीख कर लौटे होओगे।’ उस युवक ने कहा, ‘मैं कुछ भी सीख कर नहीं लौटा हूं, उलटा जो आपने सिखाया था, वह भी भूल आया हूं।’ इससे अधिक निराशाजनक उत्तर और क्या हो सकता था!
फिर एक दिन वह युवक गुरु की मालिश कर रहा था। गुरु की पीठ को मलते हुए उसने स्वतः ही कहा, ‘मंदिर तो बहुत सुंदर है, पर भीतर भगवान की मूर्ति नहीं है।’ गुरु ने सुना, उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। निश्चय ही वे शब्द उससे ही कहे गये थे। उसके ही सुंदर शरीर को उसने मंदिर कहा था। और गुरु के क्रोध को देखकर वह युवक हंसने लगा था। वह ऐसा ही था कि जैसे कोई जलती अग्नि पर और घृत डाल दे। गुरु ने उसे आश्रम से अलग कर दिया था।
फिर एक सुबह जब गुरु अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन कर रहा था, वह युवक अनायास कहीं से आकर पास बैठ गया था। वह बैठा रहा, गुरु पढ़ता रहा। तभी एक जंगली मधुमक्खी कक्ष में आकर बाहर जाने का मार्ग खोजने लगी थी। द्वार तो खुला ही था- वही द्वार, जिससे वह भीतर आयी थी, पर वह बिल्कुल अंधी होकर बंद खिड़की से निकलने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी। उसकी भनभन मंदिर के सन्नाटे में गूंज रही थी। उस युवक ने खड़े होकर जोर से उस मधुमक्खी से कहाः ‘ओ, नासमझ, वह द्वार नहीं, दीवार है। रुक और पीछे देख, इंबा- जहां से तेरा आना हुआ है, द्वार वही है।’
मधुमक्खी ने तो नहीं, पर उस गुरु ने ये शब्द अवश्य सुने और उसे द्वार मिल गया। उसने युवक की आंखों में पहली बार देखा। वह वही नहीं था, जो यात्रा पर गया था। ये आंखें दूसरी ही थीं। उसने उस दिन जाना कि वह जो सीखकर आया है, वह कोई साधारण सीखना नहीं है।
वह सीखकर नहीं कुछ जानकर आया था।
गुरु ने उससे कहा, ‘मैं आज जान रहा हूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली है,
और मैं आज जान रहा हूं कि मैं आज तक दीवार से ही सिर मारता रहा हूं और मुझे द्वार नहीं मिला है। पर अब मैं द्वार को पाने के लिए क्या करूं? और क्या करूं कि मेरा मंदिर भगवान से खाली न रहे?’ उस युवक ने कहा, ‘भगवान को चाहते हो, तो स्वयं से खाली हो जाओ। जो स्वयं भरा है, वही भगवान से खाली है। जो स्वयं से खाली हो जाता है, वह पाता है कि वह सदा से ही भगवान से भरा हुआ था। और इस सत्य का द्वार पाना चाहते हो, तो वही करो, जो वह अब मधुमक्खी कर रही है।’
गुरु ने देखा मधुमक्खी अब कुछ नहीं कर रही है। वह दीवार पर बैठी है, और
बस बैठी है। उसने समझा। वह जागा। जैसे अंधेरे में बिजली कौंध गई हो, ऐसे उसने जाना और उसने यह भी देखा कि मधुमक्खी द्वार से बाहर जा रही है।
यह कथा मेरा पूरा संदेश है। यही मैं कह रहा हूं। भगवान को पाने को कुछ करना नहीं है, वरन सब करना छोड़कर देखना है। चित्त जब शांत होता है, और देखता है, तो द्वार मिल जाता है। शांत और शून्य चित्त ही द्वार है। उस शून्य के लिए ही मेरा आमंत्रण है। वह आमंत्रण धर्म का ही है। उस आमंत्रण को स्वीकार कर लेना ही धार्मिक होना है।

057/ आंखें खोलो, स्वर्ग का राज तुम्हारा है

नील नभ के नीचे सूरज की गर्मी फैल गयी है। सर्दी घनी हो गई है और दूब
पर जमे ओस-कण बर्फ जैसे ठण्डे लगते हैं। फूलों से ओस की बूंदे टपक रही हैं।
रातरानी रात भर सुगंध देकर सो गई है।
एक मुर्गा बांग देता है और फिर दूर-दूर से उसके प्रत्युत्तर आते हैं।
वृक्ष मलय के झोंकों से कंप रहे हैं और चिड़ियों के गीत बंद ही नहीं होते हैं।
सुबह अपने हस्ताक्षर सब जगह कर देती है। सारा जगत अचानक कहने लगता है
कि सुबह हो गई है।
मैं बैठा दूर वृक्षों में खो गये रास्ते को देखता हूं। धीरे-धीरे राह भरने लगती है और लोग निकलते हैं। वे चलते, पर सोये से लगते हैं। किसी आंतरिक तंद्रा ने सबको पकड़ा हुआ है। सुबह के इन आनंद क्षणों के प्रति वे जागे हुए नहीं लगते हैं, जैसे कि उन्हें ज्ञात ही नहीं कि जो जगत के पीछे है, वह इन क्षणों में अनायास प्रकट हो जाता है।
जीवन में कितना संगीत है- और मनुष्य कितना बधिर है!
जीवन में कितना सौंदर्य है- और मनुष्य कितना अंधा है!
जीवन में कितना आनंद है- और मनुष्य कितना संवेदन-शून्य है!
उस दिन उन पहाड़ियों पर गया था। उन सुंदर पर्वत-पंक्तियों में हम देर
तक रुके थे; पर जो मेरे साथ थे, वे जीवन की दैनंदिन क्षुद्र बातों में ही लगे हुए थे- उन सब बातों में जिनका कोई अर्थ नहीं, जिनका होना न होना बराबर है। इन बातों की ओट ने उन्हें उस पर्वतीय संध्या के सौंदर्य से वंचित कर दिया था। इस तरह क्षुद्र में आवेष्टित हम विराट से अपरिचित रह जाते हैं और जो निकट ही है, वह अपने हाथों दूर पड़ जाता है। मैं कहना चाहता हूंः ओ मनुष्य! तुझे खोना कुछ भी नहीं है, सिवाय अपने अंधेपन के और पा लेना है, सब-कुछ। अपने हाथों बने भिखारी! आंखें खोल। पृथ्वी और स्वर्ग का सारा राज्य तेरा है।’

058/ समयातीत होना आनंद है

कल दोपहर एक पहाड़ी के आंचल में थे। धूप-छाया के विस्तार में बड़ी सुखद घड़ियां बीतीं। निकट ही था एक तालाब और हवा के तेज थपेड़ों ने उसे बेचैन कर रखा था। लहरें उठती-गिरतीं और टूटती उसका सब-कुछ विक्षुब्ध था।
फिर हवाएं सो गयीं और तालाब भी सो गया।
मैंने कहाः ‘देखो, जो बेचैन होता है, वह शांत भी हो सकता है। बेचैनी अपने में शांति छपाए हुए है। तालाब अब शांत है, तब भी शांत था। लहरें ऊपर ही थीं, भीतर पहले भी शांति थी।’
मनुष्य भी ऊपर ही अशांत है। लहरें ऊपर ही हैं, भीतर गहराई में घना मौन
है। विचारों की हवाओं से दूर चलें और शांत सरोवर के दर्शन हो जाते हैं। यह सरोवर ‘अभी और यहीं’ पाया जा सकता है। समय का प्रश्न नहीं है, क्योंकि समय वहीं तक है, जहां तक विचार हैं। ध्यान समय के बाहर है। ईसा ने कहाः ‘और वह समय है।। दक जीमतमेंसस इम जपउम दव सवदहमतण्श्
समय में दुख है। समय दुख है। समयातीत होना आनंद में होना है। समयातीत होना आनंद होना है।
चलो मित्र, समय के बाहर चलें- वहीं हम हैं। समय के भीतर जो दिखता है, वह
समय के बाहर ही है। इतना जानना ही चलना है। जाना कि हवाएं रुक जाती हैं और सरोवर शांत हो जाता है।

059/ समाधि

मैं मनुष्य को शब्दों से घिरा देखता हूं। पर शास्त्र और शब्द व्यर्थ हैं। उस भांति सत्य के संबंध में जाना जा सकता है, लेकिन सत्य को जानने का वह मार्ग नहीं है।
शब्द से सत्ता नहीं आती है। सत्ता का द्वार शून्य है।
शब्द से निःशब्द में छलांग लगाने का साहस ही धार्मिकता है।
विचार ‘पर’ को जानने का उपाय है। वह ‘स्व’ को नहीं देता है। ‘स्व’ उसके पीछे जो है। ‘स्व’ सबके पूर्व है। ‘स्व’ से हम सत्ता में संयुक्त होते हैं।
विचार भी ‘पर’ है। वह भी जब नहीं है, तब ‘जो है’ वह होता है। उसके पूर्व मैं ‘अहं’ हूं और उसमें ‘ब्रह्मं’ हूं।
सत्य में, सत्ता में स्व-पर मिट जाता है। वह भेद भी विचार में और विचार
का ही था।
चेतना के तीन रूप हैंः; 1 द्ध बाह्य मूर्च्छित- अंतर्मूर्च्छित,; 2 द्ध बाह्य जाग्रत- अंतर्मूर्च्छित, और; 3 द्ध बाह्य जाग्रत- अंतर्जाग्रत।
पहला रूपः मूर्च्छा- अचेतना का है। वह जड़ता है। वह विचार-पूर्व की स्थिति है। दूसरा रूपः अर्ध-मूर्च्छा- अर्ध-चेतना का है। वह जड़ और चेतन के बीच है। वह विचार की स्थिति है। तीसरा रूपः अमूर्च्छा- पूर्ण-चेतना का है। वह पूर्ण चैतन्य है और विचारातीत है।
सत्य को जानने के लिए केवल विचाराभाव ही नहीं पाना है। वह तो जड़ता में, मूर्च्छा में ले जाते है। धर्म के नाम से प्रचलित बहुत-सी क्रियाएं मूर्च्छा में ही ले जाती हैं। शराब, सेक्स और संगीत भी मूर्च्छा में ही ले जाते हैं। मूर्च्छा में पलायन है। वह उपलब्धि नहीं है।
सत्य को पाने के लिए विचारशून्यता ओर चैतन्य पाना होता है। उस स्थिति
का नाम समाधि है।

060/ मनुष्य-मनुष्यता

पूर्णिमा है, लेकिन आकाश बादलों से ढका है। मैं राह से आया हूं। एक रेत के ढेर पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। उन्होंने रेत के कुछ घर बनाए और उस पर से ही उनके बीच में झगड़ा हो गया था। रेत के घरों पर ही सारे झगड़े होते हैं। वे तो बच्चे ही थे, पर थोड़ी देर में जो बच्चे नहीं थे, वे भी उसमें सम्मिलित हो गये। बच्चों के झगड़े में, बाद में उनके बड़े भी सम्मिलित हो गये थे।
मैं किनारे खड़ा सोचता रहा कि बच्चों और बड़ों का विभाजन कितना कृत्रिम है! आयु वस्तुतः कोई भेद नहीं लाती, और उससे प्रौढ़ता का कोई संबंध नहीं है। हममें से अधिक बच्चे ही मर जाते हैं। लाओत्से के संबंध में कथा है कि
वह बूढ़ा ही पैदा हुआ था। यह बात बहुत अस्वाभाविक लगती है। पर क्या इससे भी अधिक अस्वाभाविक घटना यह नहीं है कि कोई मरते समय तक भी प्रौढ़ता को उपलब्ध न हो पाये! शरीर विकसित हो जाते हैं, पर चित्त वहीं का वहीं ठहरा रह जाता है। तभी तो संभव है कि रेत के घरों पर झगड़े चलें और आदमी- आदमी के वस्त्रों को उतार क्षण में नग्न हो जाये और जाहिर कर दे कि सब विकास की बातें व्यर्थ हैं। और कौन कहता है कि मनुष्य पशु से पैदा हुआ है? मनुष्य के पशु से पैदा होने की बात गलत है, क्योंकि वह तो अभी भी पशु ही है।
क्या अभी मनुष्य पैदा नहीं हुआ है?
मनुष्य को गहरा देखने में जो उत्तर मिलता है। वह ‘हां’ में नहीं मिलता है। डायोजनीज दिन को, भरी दोपहरी में भी अपने साथ एक जलती हुई लालटेन लिये रहता था, और कहता था कि मैं मनुष्य को खोज रहा हूं। वह जब वृद्ध हो गया था तो किसी ने उससे पूछा कि क्या उसे अब भी ‘मनुष्य’ खोज लेने की आशा है।’ उसने कहाः ‘हां, क्योंकि अब भी जलती हुई लालटेन मेरे पास है।’
मैं खड़ा रहा हूं और उस रेत के ढेर के पास बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी है और लोग गाली-गलौज का और एक-दूसरे को डराने-धमकाने का बहुत रस-मुग्ध हो पान कर रहे हैं। जो लड़ रहे हैं, उनकी आंखों में भी बहुत चमक मालूम हो रही है। कोई पाशविक आनंद जरूर उनकी आंखों और गतिविधियों में प्रवाहित हो रहा है।

जिब्रान ने लिखा है- एक दिन मैंने खेत में खड़े एक काठ के पुतले से पूछाः ‘क्या तुम इस खेत में खड़े-खड़े उकता नहीं जाते हो?’ उसने उत्तर दियाः ‘ओह! पक्षियों को डराने का आनंद इतना अधिक है कि समय कब बीत जाता है, कुछ पता ही नहीं चलता।’ मैंने क्षण भर सोचकर कहाः ‘यह सत्य है, क्योंकि मुझे भी इस आनंद का अनुभव है।’ पुतला बोलाः ‘हां, वे ही व्यक्ति जिनके शरीर में घास-फूस भरा है, इस आनंद से परिचित हो सकते हैं!’ पर इस आनंद से तो सभी परिचित मालूम हाते हैं। क्या हम सबके भीतर घास-फूस ही नहीं भर हुआ है? और क्या हम भी खेत में खड़े झूठे आदमी ही नहीं हैं?
उस रेत के ढेर पर यही आनंद देखकर लौटा हूं और क्या सारी पृथ्वी के ढेर
पर भी यही आनंद नहीं चल रहा है?
यह अपने से पूछता हूं और रोता हूं। उस मनुष्य के लिए रोता हूं, जो कि पैदा हो सकता है, पर पैदा नहीं हुआ है। जो कि प्रत्येक के भीतर है, पर वैसे ही छिपा है, जैसे राख में अंगार छिपा होता है।
वस्तुतः शरीर घास-फूस के ढेर से ज्यादा नहीं है। जो उस पर समाप्त है, अच्छा था कि वह किसी खेत में होता, तो कम से कम फसलों को पक्षियों से बचाने के काम तो आ जाता। मनुष्य की सार्थकता तो उतनी भी नहीं है!
शरीर से जो अतीत है, उसे जाने बिना कोई मनुष्य नहीं बनता है। आत्मा को जाने बिना कोई मनुष्य नहीं बनता है। मनुष्य की भांति पैदा हो जाना एक बात है, मनुष्य होना बिल्कुल दूसरी बात है।
मनुष्य को तो स्वयं के भीतर स्वयं को जन्म देना होता है। यह वस्त्रों
की भांति नहीं है कि उसे ओढ़ा जा सके। मनुष्यता के वस्त्रों को ओढ़कर कोई मनुष्य नहीं बनता है, क्योंकि वे उसी समय तक उसे मनुष्य बनाये रखते हैं, जब तक कि मनुष्यता की वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। आवश्यकता आते ही वे कब गिर जाते हैं, ज्ञात भी नहीं हो पाता है।
बीज जैसे अपने प्राणों को परिवर्तित का अंकुर बनता है- किन्हीं वस्त्रों को धारण करके नहीं- वैसे ही मनुष्य को भी अपनी समस्त प्राण-सत्ता एक नये ही आयाम में अंकुरित करनी होती है, तभी उसका जन्म होता है और परिवर्तन होता है।
और तब उसका आनंद कांटों को फेंकने में नहीं, कांटों को उठाने में और फूलों को बिखेरने में परिणत हो जाता है। वह घड़ी ही घोषणा करती है कि अब वह घास-फूस नहीं है- मनुष्य है; देह नहीं, आत्मा है।
गुरजिएफ ने कहा है, ‘इस भ्रम को छोड़ दें कि प्रत्येक के पास आत्मा है।’
सच ही जो सोया है, उसके पास आत्मा है या नहीं, इससे क्या अंतर पड़ता है! वही वास्तविक है- जो है। आत्मा सबकी संभावना है, पर उसे जो सत्य बनाता है, वही उसे पाता है।

061/ विवेक, बुद्धि और वृत्ति

मैं तीन छोटे-छोटे शब्दों पर मनुष्य की समग्र चेतना को घूमते देखता हूं। वे तीन शब्द कौन से हैं?
वे शब्द हैंः विवेक, बुद्धि और वृत्ति।
विवेक से श्रेष्ठतम चलते हैं। बुद्धि से वे जो मध्य में हैं। और वृत्ति चेतना की निम्नतम दशा है।
वृत्ति पाशविक है। बुद्धि मानवीय है। विवेक दिव्य है।
वृत्ति सहज और आंधी है। वह निद्रा है। वह अचेतन का जगत है। वहां न शुभ
है, न अशुभ है। कोई भेद वहां नहीं है। इसमें कोई अंतर्सघर्ष भी नहीं है। वह आंधी वासनाओं का सहज प्रवाह है।
बुद्धि न निद्रा है, न जागरण है। वह अर्ध-मूर्च्छा है। वह वृत्ति और विवेक के बीच संक्रमण है। वह दहलीज है। उसमें एक अंश चैतन्य हो गया है। लेकिन शेष अचेतन है। इससे भेद बोध है। शुभ-अशुभ का जन्म है। वासना भी है, विचार भी है।

विवेक पूर्ण जागृति है। वह शुद्ध चैतन्य है। वह केवल प्रकाश है। वहां
भी कोई संघर्ष नहीं है। वह भी सहज है। वह शुभ का, सत का, सौंदर्य का सहज प्रवाह है।
वृत्ति भी सहज, विवेक भी सहज। वृत्ति आंधी सहजता, विवेक सजग सहजता। बुद्धि भर असहज है। उसमें पीछे की ओर वृत्ति है, आगे की और विवेक है। उसके शिखर की लौ विवेक की ओर और आधार की जड़े वृत्ति में हैं। सतह कुछ, तलहटी कुछ। यही खिंचाव है। पशु में डूबने का आकर्षण- प्रभु में उठने की चुनौती- उसमें दोनों एक साथ हैं!
इस चुनौती से डरकर जो पशु में डूबने का प्रयास करते हैं, वे भ्रांति में हैं। जो अंश चैतन्य हो गया है, वह अब अचेतन नहीं हो सकता है। जगत-व्यवस्था में पीछे लौटने का कोई मार्ग नहीं है।
इस चुनौती को मानकर जो सतह पर शुभ-अशुभ का चुनाव करते हैं, वे भी भ्रांति में हैं। उस तरह का चुनाव व आचरण-परिवर्तन सहज नहीं हो सकता है। वह केवल चेष्टित अभिनय है। और जो चेष्टित है, वह शुभ भी नहीं है। प्रश्न सतह पर नहीं है, तलहटी में है। वहां जो सोया है, उसे जगाना है। अशुभ नहीं, मूर्च्छा छोड़नी है।
अंधेरे में दिया जलाना है।
यह आज कहा है।

062/ मौन का संगीत

दोपहर की शांति। उजली धूप और पौधे सोये-सोये से एक जामुन की छाया तले दूब पर आ बैठा हूं। रह-रह कर पत्ते ऊपर गिर रहे हैं- अंतिम, पुराने पत्ते मालूम होते हैं। सारे वृक्षों पर नई पत्तियां आ गई हैं। और नई पत्तियों के साथ न मालूम कितनी नई चिड़ियों और पक्षियों का आगमन हुआ है। उनके गीतों का जैसे कोई अंत ही नहीं है। कितने प्रकार की मधुर ध्वनियां इस दोपहर को संगीत दे रही हैं, सुनता हूं और सुनता रहता हूं और फिर मैं भी एक अभिनव संगीत-लोक में चला जाता हूं।
‘स्व’ का लोक, संगीत का लोक ही है।
यह संगीत प्रत्येक के पास है। इसे पैदा नहीं करना होता है। यह सुन पड़े, इसके लिए केवल मौन होना होता है। चुप होते ही कैसे एक परदा उठ जाता है! जो सदा से था, वह सुन पड़ता है और पहली बार ज्ञात होता है कि हम दरिद्र नहीं हैं। एक अनंत संपत्ति का पुनराधिकार मिल जाता है। फिर कितनी हंसी आती है- जिसे खोजते थे, वह भीतर ही बैठा था!

063/ स्व-ज्ञान ही जीवन है

रात पानी बरसा है। उसका गीलापन अभी तक है और मिट्टी से सोंधी सुगंध उठ रही है। सूरज काफी ऊपर उठ आया है और गायों का एक झुंड जंगल जा रहा है। उनकी काठ की घंटियां बड़ी मधुर बज रही हैं। मैं थोड़ी देर तक उन्हें सुनता रहा हूं। अब गायें दूर निकल गयी हैं और घंटियों की फीकी प्रतिध्वनि ही शेष रह गयी है।
इतने में कुछ लोग मिलने आये हैं। पूछ रहे हैं, ‘मृत्यु क्या है?’
मैं कहता हूंः जीवन को हम नहीं जानते हैं, इसलिए मृत्यु है। स्व-विस्मरण मृत्यु है; अन्यथा मृत्यु नहीं है, केवल परिवर्तन है। ‘स्व’ को न जानने से एक कल्पित ‘स्व’ हमने निर्मित किया है। यही है हमारा ‘मैं’- अहंकार।
यह है नहीं, केवल भासता है। यह झूठी इकाई ही मृत्यु में टूटती है। इसके टूटने से दुख होता है, क्योंकि इसी से हमने अपना तादात्म्य स्थापित किया था। जीवन में ही इस भ्रांति को पहचान लेना मृत्यु से बच जाना है।

जीवन को जान लो और मृत्यु समाप्त हो जाती है। जो है, वह अमृत है। उसे जानते ही नित्य, शाश्वत जीवन उपलब्ध हो जाता है।
कल एक सभा में यही कहा है- ‘स्व-ज्ञान जीवन है। स्व-विस्मरण मृत्यु है।’

064/ धारणा-शून्य मन ही जागृति

एक अध्यापक हैं। धर्म में उनकी अभिरुचि है। धर्म ग्रंथों के अध्ययन में जीवन लगाया है। धर्म की बातें उठे तो उनके विचार-प्रवाह का अंत नहीं आता है। एक अंतहीन फीते के भांति उनके विचार निकलते आते हैं। कितने उद्धरण और कितने सूत्र उन्हें याद हैं, कहना कठिन हैं। कोई भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। वे एक चलते-फिरते विश्व-कोश हैं, ऐसी ही उनकी ख्याति है। कई बार मैंने उनके विचार सुने हैं और मौन रहा हूं। एक बार उन्होंने मुझसे पूछा कि मेरे संबंध में क्या ख्याल है? मैंने जो सत्य था, वही कहा। कहा कि ईश्वर के संबंध में विचार इकट्ठा करने में उन्होंने ईश्वर को गंवा दिया है। वे निश्चित ही चौंक गये मालूम हुए थे। फिर बाद में आये भी। उसी संबंध में पूछने आये थे। आकर कहा कि ‘अध्ययन और मनन से ही तो सत्य को पाया जा सकता है। और तो कोई मार्ग भी नहीं है! ज्ञान ही तो सब-कुछ है।
मैं ऐसे सब लोगों से एक ही प्रश्न पूछता हूं। वही उनसे भी पूछा था कि अध्ययन क्या है और उससे आपके भीतर क्या हो जाता है? क्या कोई नई दृष्टि का आयाम पैदा हो जाता है? क्या चेतना किसी नये स्तर पर पहुंच जाती है? क्या सत्ता में कोई क्रांति हो जाती है? क्या आप जो हैं, उससे भिन्न और अन्यथा हो जाते हैं? या कि आप वही रहते हैं और केवल कुछ विचार, और सूचनाएं आपकी स्मृति का अंग बन जाती हैं? अध्ययन से केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है और मन की सतही परत पर विचार की धूल जम जाती है। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं होता है, न हो सकता है। केंद्र पर उससे कोई परिवर्तन नहीं होता है। चेतना वही की वही रहती है। अनुभूति के आयाम वही के वही रहते हैं। सत्य के संबंध में कुछ जानना और सत्य को जानना दोनों बिल्कुल भिन्न बातें हें। ‘सत्य के संबंध में जानना’ बुद्धिगत है, सत्य को जानना चेतनागत है।
सत्य को जानने के लिए चेतना की परिपूर्ण जागृति, उसकी अमूर्च्छा आवश्यक है। स्मृति-प्रशिक्षण और तथाकथित ज्ञान से यह नहीं हो सकता है। जो स्वयं नहीं जाना गया है, वह ज्ञान नहीं है।
सत्य के, अज्ञात सत्य के संबंध में जो बौद्धिक जानकारी है, वह ज्ञान
का आभास है। वह मिथ्या है और सम्यकज्ञान में मार्ग में बाधा है। असलियत में जो अज्ञात है, उसे जानने का ज्ञात से कोई मार्ग नहीं है। वह तो बिल्कुल नया है। वह तो ऐसा है, जो पूर्व कभी नहीं जाना गया है, इसलिए स्मृति उसे देने या उसकी प्रत्यभिज्ञा में भी समर्थ नहीं है। स्मृति केवल उसे ही दे सकती है- उसकी ही प्रत्यभिज्ञा भी उससे आ सकती है- जो कि पहले भी जाना गया है। वह ज्ञात की ही पुनरुक्ति है।
लेकिन जो नवीन है-एकदम अभिनव, अज्ञात और पूर्व-अपरिचित- उसके आने के लिए तो स्मृति को हट जाना होगा। स्मृति को, समस्त ज्ञात विचारों को हटाना होगा ताकि नये का जन्म हो सके; ताकि ‘जो है’, वह वैसे ही जाना जा सके जैसा कि है। मनुष्य की समस्त धारणाएं और पूर्वाग्रह उसके आने के लिए हटने आवश्यक हैं। विचार, स्मृति और धारणा-शून्य मन ही अमूर्च्छा है, जागृति है। इसके आने पर ही केंद्र पर परिवर्तन होता है और सत्य का द्वार खुलता है। इसके पूर्व सब भटकन है और जीवन-अपव्यय है।

065/ मोक्ष की प्रवृत्ति नहीं

एक साधु कल कह रहे थेः
‘मैं संसार की ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति छोड़ चुका हूं, अब तो प्रवृत्ति मोक्ष की ओर है। यही निवृत्ति है। संसार की ओर प्रवृत्ति मोक्ष के प्रति निवृत्ति है; मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति संसार के प्रति निवृत्ति है।’
यह बात दिखने में कितनी ठीक और समझ-भरी मालूम होती है। कहीं कोई चूक दिखाई नहीं देती। बिल्कुल बुद्धि और तर्कयुक्त है, पर उतनी ही व्यर्थ भी है। ऐसे ही शब्दों के खेल में कितने ही लोग प्रवंचना में पड़े रहते हैं। बुद्धि और तर्क- आत्मिक जीवन के संबंध में कहीं भी ले जाते मालूम नहीं होते हैं।
मैंने उनसे कहाः ‘आप शब्दों में उलझ गये हैं। ‘संसार की ओर प्रवृत्ति’
का कोई अर्थ नहीं है। असल में प्रवृत्ति ही संसार है। वह किस ओर है, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है। बस, उसका होना ही संसार है। वह धन की ओर हो तो, वह धर्म की ओर हो तो- उसका स्वरूप एक ही है।’
प्रवृत्ति मनुष्य को अपने से बाहर ले जाती है। वह वासना है, वह फलासक्ति है, वह कुछ होने की तृष्णा और दौड़ है। ‘अ’ ‘ब’ होना चाहता है! यह उसका रूप है। और जब तक कुछ होने की वासना है, तब तक वह ‘जो है’, उसका होना नहीं हो पाता है। इस ‘है’ का उद्घाटन ही मोक्ष है।
‘मोक्ष’ कोई वस्तु नहीं है, जिसे पाना है। वह वासना का कोई विषय नहीं है। इससे उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। वह तो तब है, जब कोई प्रवृत्ति नहीं होती- मोक्ष की भी नहीं। तब जो होता है, उसका नाम मोक्ष है। इससे मोक्ष को पाना नहीं है, असल में पाना छोड़ना है और मोक्ष पा लिया जाता है।

066/ सम्यक दर्शन

मनुष्य जिसे जगत कहता है, वह सत्ता की सीमा नहीं है। वह केवल मनुष्य
की इंद्रियों की सीमा है। इन इंद्रियों के पार असीम विस्तार है। इस असीम को इंद्रियों से कभी भी पूरा-पूरा नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि इंद्रियां खंड को देखती हैं, अंश को देखती हैं और जो असीम है, अनंत है, वह खण्डित और विभाजित नहीं होता है। जो असीम है, उसे मापने के लिए कोई सीमित साधन काम नहीं दे सकता है।
जो असीम है, वह केवल असीम से ही पकड़ा जा सकता है।
और जिन्होंने उसे जाना है, उन्होंने इंद्रियों से, बुद्धि से नहीं- स्वयं असीम होकर उसे जाना है। यह संभव है, क्योंकि इस क्षुद्र और सीमित दिखते मनुष्य में असीम भी उपस्थिति है। इंद्रियों पर उसकी परिसमाप्ति नहीं है। वह इंद्रियों में है, पर इंद्रियां ही नहीं हैं। वह इंद्रियातीत आयाम में फैला हुआ है। वह जितना दिखता है, वहां उसकी समाप्ति-सीमा नहीं, शुरुआत है। वह अदृश्य है। दृश्य के घेरे में अदृश्य बैठा हुआ है। इस अदृश्य को वह अपने भीतर पा ले, तो जगत के समस्त अदृश्यों को पा लेता है। क्योंकि समस्त भाग और खण्ड दृश्य के हैं। अदृश्य अखंडित है। एक और अनेक वहां एक ही है, और इसलिए एक को पा लेने से सबको पा लिया जाता है।
कहा है महावीर नेः ‘जे एगम जाणई से सव्वम जाणई।’ एक को जाना कि सब को जाना। वह एक भीतर है। यह दृश्य नहीं, दृष्टा है। इससे इसे पाने का मार्ग आंख नहीं है। आंख बंद करना इसका मार्ग है। आंख बंद करने का अर्थ है, दृश्य से मुक्ति। आंख बंद हों और भीतर दृश्य बहते हों, तो आंख खुली ही है। दृश्य दृष्टि में न हो और आंख खुली हो, तो भी आंख बंद है। दृश्य न हो और केवल दृष्टि, केवल दर्शन रह जाये तो द्रष्टा प्रकट हो जाता है।
जिस दर्शन में द्रष्टा दिखे, वह सम्यकदर्शन है। यह दर्शन जब तक नहीं,
तब तक मनुष्य अंधा होता है। आंखें होते हुए भी आंख नहीं होती हैं। इस दर्शन से चक्षु मिलते हैं- वास्तविक चक्षु, इंद्रियातीत चक्षु। सीमाएं

मिट जाती हैं, रेखाएं मिट जाती हैं ओर जो है- आदि-अंतहीन विस्तार, ब्रह्म-वह उपलब्ध होता है।
यह उपलब्धि ही मुक्ति है। क्योंकि प्रत्येक सीमा बंधन है, प्रत्येक सीमा परतंत्रता है। सीमा से ऊपर होना स्वतंत्रता होना है।

067/ स्वयं से प्रेम करो

एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था- आत्म-दमन। प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है, पर अपने से घृणा करनी है। स्वयं अपने से शत्रुता करनी है, तब कहीं आत्म-जय होती है। पर यह विचार जितना प्रचलित है, उतना ही गलत भी है। इस मार्ग से व्यक्तित्व द्वैत में टूट जाता है और आत्महिंसा की शुरुआत हो जाती है। और हिंसा सब कुरूप कर देती है।
मनुष्य को वासनाएं इस तरह से दमन नहीं करनी हैं, न की जा सकती हैं। यह हिंसा का मार्ग धर्म का मार्ग नहीं है। इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने विकसित रूप हो गये हैं! उनमें दिखती है तपश्चर्या, पर वस्तुतः हिंसा का रस, दमन और प्रतिरोध का सुख- यह तप नहीं है, आत्म-वंचना है। मनुष्य को अपने से लड़ना नहीं, अपने को जानना है। पर जानना, अपने को प्रेम करने से शुरू होता है। अपने को सम्यक रूपेण प्रेम करना है। न तो वासनाओं के पीछे अंधा होकर दौड़ने वाला अपने से प्रेम करता है- न वासनाओं से अंधा हो कर लड़ने वाला अपने से प्रेम करता है। वे दोनों अंधे हैं। और पहले अंधेपन की प्रतिक्रिया में दूसरे अंधेपन का जन्म हो जाता है। एक वासनाओं में अपने को नष्ट करता है, एक उनसे लड़कर अपने को नष्ट कर लेता है। वे दोनों अपने प्रति घृणा से भरे हैं। ज्ञान का प्रारंभ अपने को प्रेम करने से होता है।
मैं जो भी हूं, उसे स्वीकार करना है, उसे प्रेम करना है। और इस स्वीकृति और इस प्रेम में ही वह प्रकाश उपलब्ध होता है, जिससे सहज सब-कुछ परिवर्तित हो जाता है- एक संगीत का, और एक शांति का, और एक आनंद का- जिनके समग्रीभूत प्रभाव का नाम आध्यात्मिक जीवन है।

068/ सत्य का स्वरूप

सत्य पर कुछ चर्चा चल रही थी कि मैं भी आ गया हूं। सुनता हूं। जो बात
कह रहे हैं, वे अध्ययनशील हैं। विभिन्न दर्शनों से परिचित हैं। कितने मत हैं और कितने विचार हैं, सब उन्हें ज्ञात मालूम होते हैं। बुद्धि उनकी भरी हुई है- सत्य से तो नहीं, सत्य के संबंध में औरों ने जो कहा है, उससे। जैसे औरों ने जो कहा है, उस आधार से भी सत्य जाना जा सकता है! सत्य जैसे कोई मत है- विचार है और कोई बौद्धिक तार्किक निष्कर्ष है! विवाद उनका गहरा होता जा रहा है। और अब कोई भी किसी की सुनने की स्थिति में नहीं है। प्रत्येक बोल रहा है, पर कोई भी सुन नहीं रहा है।
मैं चुप हूं। फिर किसी को मेरा स्मरण आता है और वे मेरा मत जानना चाहते हैं। मेरा तो कोई मत नहीं है। मुझे तो दिखता है कि जहां तक मत है, वहां तक सत्य नहीं है। विचार की जहां सीमा समाप्ति है, सत्य का वहां प्रारंभ है।
मैं क्या कहूं! वे सभी सुनने को उत्सुक हैं। एक कहानी कहता हूंः एक साधु था, बोधिधर्म। वह ईसा की छठी सदी में चीन गया था। कुछ वर्ष वहां रहा, फिर घर लौटना चाहा और अपने शिष्यों को इकट्ठा किया। वह जानना चाहता था कि सत्य में उनकी कितनी गति हुई है।
उसके उत्तर में एक ने कहाः ‘मेरे मत से सत्य स्वीकार-अस्वीकार के अतीत है- न कहा जा सकता है कि है, न कहा जा सकता है कि नहीं है, क्योंकि ऐसा ही उसका स्वरूप है।’

बोधिधर्म बोलाः ‘तेरे पास मेरी चमड़ी है।’
दूसरे ने कहाः ‘मेरी दृष्टि में सत्य अंतर्दृष्टि है। उसे एक बार पा लिया तो पा लिया, फिर उसका खोना नहीं है।’
बोधिधर्म बोलाः ‘तेरे पास मेरा मांस है।’
तीसरे ने कहाः ‘मैं मानता हूं कि पंच महाभूत शून्य हैं और पंच स्कंध
भी अवास्तविक हैं। यह शून्यता ही सत्य है।’
बोधिधर्म ने कहाः ‘तेरे पास मेरी हड्डियां हैं।’
और अंततः वह उठा जो जानता था। उसने गुरु के चरणों में सिर रख दिया और मौन रहा। वह चुप था और उसकी आंखें शून्य थी।
बोधिधर्म ने कहाः ‘तेरे पास मेरी मज्जा है, मेरी आत्मा है।’
और यही कहानी मेरा उत्तर है।

069/ मैं कौन हूं?

एक मंदिर में बोलने गया था। बोलने के बाद एक युवक ने कहाः ‘क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूं? यह प्रश्न मैं बहुतों से पूछ चुका हूं; पर जो उत्तर मिले, उनसे तृप्ति नहीं होती है। समस्त दर्शन कहते हैंः अपने को जानो। मैं भी अपने को जानना चाहता हूं। यही मेरा प्रश्न है। ‘मैं कौन हूं?’ इसका उत्तर चाहता हूं।’
मैंने कहाः ‘अभी आपने प्रश्न पूछा ही नहीं है, तो उत्तर कैसे पाते? प्रश्न पूछना उतना आसान नहीं है।’
उस युवक ने एक क्षण हैरानी से मुझे देखा। प्रकट था कि मेरी बात का अर्थ उसे नहीं दिखा था। वह बोलाः ‘यह आप क्या कहते हैं? मैंने प्रश्न ही नहीं पूछा है।’
मैंने कहाः ‘रात्रि आ जायें।’ वह रात्रि में आया भी। सोचा होगा, मैं कोई उत्तर दूंगा। उत्तर मैंने दिया भी, पर जो उत्तर दिया वह उसने नहीं सोचा था।
वह आया। बैठते ही मैंने प्रकाश बुझा दिया। वह बोलाः ‘यह क्या कर रहे हैं? क्या उत्तर आप अंधेरे में देते हैं?’
मैंने कहाः ‘उत्तर नहीं देता, केवल प्रश्न पूछना सिखाता हूं। आत्मिक जीवन और सत्य के संबंध में कोई उत्तर बाहर नहीं है। ज्ञान बाह्य तथ्य नहीं है। वह सूचना नहीं है, अतः उसे आप में डाला नहीं जा सकता है। जैसे कुएं से पानी निकालते हैं, ऐसे ही उसे भी भीतर से ही निकालना होता है। वह है नित्य। उसकी सतत उपस्थिति है, केवल घड़ा उस तक पहुंचाना है। इस प्रक्रिया में एक ही बात स्मरणीय है कि घड़ा खाली हो। घड़ा खाली हो, तो भरकर लौट आता है और प्राप्ति हो जाती है।’
अंधेरे में थोड़ा- सा समय चुपचाप सरका। वह बोलाः ‘अब मैं क्या करूं?’ मैंने कहाः ‘घड़ा खाली कर लें, शांत हो जाएं और पूछेंः ‘मैं कौन हूं?’ एक बार, दो बार, तीन बार पूछें। समग्र शक्ति से पूछेंः ‘मैं कौन हूं?’ प्रश्न पूरे व्यक्तित्व में गूंज उठे और तब शांत हो जाएं और मौन, विचार-शून्य प्रतीक्षा करें। प्रश्न और फिर खामोशी, शून्य प्रतीक्षा। यही विधि है।’ वह थोड़ी देर बाद बोलाः ‘लेकिन मैं चुप नहीं हो पा रहा हूं। प्रश्न तो पूछ लिया पर शून्य प्रतीक्षा असंभव है और अब मैं देख पा रहा हूं कि मैंने वस्तुतः आज तक प्रश्न पूछा ही नहीं था।’

070/ विकारों का त्याग

मैं एक प्रवचन पढ़ रहा हूं। किन्हीं साधु का है। क्रोध छोड़ने को, मोह छोड़ने को, वासनाएं छोड़ने को कहा है। जैसे ये सब बातें छोड़ने की हों! किसी ने चाहा और छोड़ दिया! पढ़-सुनकर ऐसा ही प्रतीत होता है। इन उपदेशों को सुनकर

ज्ञात होता है कि अज्ञान कितना घना है! मनुष्य के मन के संबंध में हम कितना कम जानते हैं!
एक बच्चे से एक दिन मैंने कहा कि तुम अपनी बीमारी को छोड़ क्यों नहीं देते हो? वह बीमार बच्चा हंसने लगा और बोला कि क्या बीमारी छोड़ना मेरे हाथ में है।
प्रत्येक व्यक्ति बीमारी और विकार को छोड़ना चाहता है, पर विकार की जड़ों तक जाना आवश्यक है; वे जिस अचेतन के गर्त से आते हैं, वहां तक जाना आवश्यक है- केवल चेतन मन के संकल्प से उनसे मुक्ति नहीं पायी जा सकती है। एक कहानी फ्रॉयड ने कही है!
एक ग्रामीण शहर के किसी होटल में ठहरा था। रात्रि उसने अपने कमरे में प्रकाश को बुझाने की बहुत कोशिश की पर असफल ही रहा। उसने प्रकाश को फूंक कर बुझाना चाहा, बहुत भांति फूंका, पर प्रकाश था कि अकंपित जलता ही गया। उसने सुबह इसकी शिकायत की। शिकायत के उत्तर में उसे ज्ञात हुआ कि वह प्रकाश दिये का नहीं था, जो फूंकने से बुझ जाता- वह प्रकाश तो विद्युत का था।
और मैं कहता हूं कि मनुष्य के विकारों को भी फूंककर बुझाने की विधि गलत है। वे मिट्टी के दिये नहीं हैं; विद्युत के दिये हैं। उन्हें बुझाने की विधि अचेतन में छिपी है। चेतन के सब संकल्प फूंकने की भांति व्यर्थ हैं। केवल अचेतन में योग्य माध्यम से उतरकर ही उनकी जड़े तोड़ी जा सकती हैं।

071/ जीने का आनंद

टिक... टिक... टिक... घड़ी फिर से चलनी शुरू हो गयी है। वह अपने में तो चलती
ही थी, मेरे लिये बंद हो गई थी या ठीक हो कि कहूं कि मैं ही वहां के प्रति बंद हो गया था, जहां कि उसका चलना है।
एक दूसरे समय में चला गया था। आंखें बंद किये बैठा था और भीतर देखता था, देखता रहा- काल का एक और ही क्रम था। और फिर काल-क्रम टूट गया था।
समय के बाहर खिसक जाने में कैसा आनंद आता है! चित्त पर चित्र बंद हो जाते हैं। उनका होना ही काल है। वह मिटे कि काल मिटा और फिर शुद्ध वर्तमान ही रह जाता है। वर्तमान कहने को समय का अंग है। वस्तुतः वह काल-क्रम के बाहर है, अतीत है। उसमें होना ‘स्व’ में होना है। उस जगत से अब लौटा हूं। सब कितना शांत है। दूर किसी पक्षी का गीत चल रहा है, पड़ोस में कोई बच्चा रोता है और एक मुर्गा बोल रहा है।
ओह! जीना कितना आनंदप्रद है। और अब मैं जानता हूं कि मृत्यु भी आनंद है। क्योंकि जीवन उसमें भी समाप्त नहीं होता है। वह जीवन की एक स्थिति है। जीवन उसके पूर्व भी है और उसके पश्चात भी है।

072/ ईश्वर क्या है?

ईश्वर क्या है?
यह प्रश्न कितनों के मन में नहीं है! कल एक युवक पूछ रहे थे। और यह बात ऐसे पूछी जाती है, जैसे कि ईश्वर कोई वस्तु है- खोजने वाले से अलग और भिन्न और जैसे उसे अन्य वस्तुओं की भांति पाया जा सकता है। ईश्वर को पाने की बात ही व्यर्थ है- और उसे समझने की भी। क्योंकि वह मेरे आरपार है। मैं उसमें हूं और ठीक से कहें तो ‘मैं’ हूं ही नहीं, केवल वही है।
ईश्वर ‘जो है’ उसका नाम है। वह सत्ता के भीतर ‘कुछ’ नहीं है; स्वयं सत्ता है। उसका अस्तित्व भी नहीं है, वरन अस्तित्व ही उसमें है। वह ‘होने’ का अस्तित्व का, अनाम का नाम है।
इससे उसे खोजा नहीं जाता है, क्योंकि मैं भी उसी में हूं। उसमें तो खोया जाता है और खोते ही उसका पाना है।

एक कथा है। एक मछली सागर का नाम सुनते-सुनते थक गयी थी। एक दिन उसने मछलियों की रानी से पूछा- ‘मैं सदा से सागर का नाम सुनती आयी हूं, पर सागर है क्या? और कहां है?’ रानी ने कहाः ‘सागर में ही तुम्हारा जन्म है, जीवन है और जगत है। सागर ही तुम्हारी सत्ता है। सागर ही तुम में है और तुम्हारे बाहर है। सागर से तुम बनी हो और सागर में ही तुम्हारा अंत है। सागर तुम्हें प्रतिक्षण घेरे हुए है।’
ईश्वर प्रत्येक को प्रतिक्षण घेरे हुए है। पर हम मूर्छित हैं, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता है। मूर्च्छा जगत है, संसार है।
अमूर्च्छा ईश्वर है।

073/ शांति

एक स्वामी आये थे। वर्षो से संन्यासी हैं। मैंने पूछाः ‘संन्यास क्यों लिया?’ बोलेः ‘शांति चाहता हूं।’
सोचता हूं कि क्या शांति भी चाही जा सकती है? क्या ‘चाहने’ और ‘शांति’ में विरोध नहीं है? उनसे यह कहा भी।
कुछ हैरान-से हो गये थे। बोलेः ‘फिर क्या करें?’
मैं हंसने लगा। कहाः ‘क्या करने में भी चाह छिपी नहीं बैठी है?’
प्रश्न कुछ करने का नहीं है। शांति के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता है। वह चाह का अंग नहीं है। उसे चाहना व्यर्थ है। असल में अशांति को समझना आवश्यक है। अशांति क्या है, यह जानना है- शास्त्रों से नहीं, स्वयं से। शास्त्रों को जानने से ही शांति की चाह पैदा होती है। और तब ‘क्या करने’ का प्रश्न उठता है।
उन स्वामी ने कहाः ‘अशांति वासना के कारण है- चाह के कारण है। तृष्णा न
हो जाये, तो शांति है।’
मैंने कहाः ‘यह उत्तर शास्त्र से है, स्वयं से नहीं- अन्यथा शांति चाहता हूं, ऐसा कहना संभव न होता।’ तृष्णा ही अशांति है- चाह ही अशांति है, तो शांति को कैसे चाहा जा सकता है? अशांति को जानें, स्वानुभव से उसके प्रति जागें- निर्दोष, निष्पक्ष मन से उसे समझें। यह समझ अशांति की जड़ों को सामने ला देगा। अशांति का मूल वासना है, यह दिखेगा और यह दिखना ही अशांति का विसर्जन बन जाता है।
अशांति का ज्ञान ही उसकी मृत्यु है। उसका जीवन अंधेरे में और अंधेपन में ही संभव है। ज्ञान का प्रकाश आते ही उसकी समाप्ति है। अशांति के विसर्जन पर जो बच रहता है, वह शांति है। शांति अशांति के विपरीत नहीं चाही जाती है।
वह उसकी विरोधी नहीं है। वह है, उसका न हो जाना। इसलिए शांति को नहीं खोजना है, केवल अशांति को जानना है। सीखा हुआ शास्त्र ज्ञान, इस ज्ञान में बाधा बन जाता है। क्योंकि बंधे-बंधाये उत्तर स्वानुभूति के पूर्व ही उधार निष्कर्षो से चित्त को भर देते हैं। इन उधार निष्कर्षो से कोई परिवर्तन नहीं होता है। स्वानुभूति ही मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मिक जीवन में उधार ज्ञान के बोझ को उतारकर चलना होता है।

074/ मनुष्य के साथ क्या हो गया है?

मनुष्य के साथ क्या हो गया है?
मैं सुबह उठता हूं। देखता हूं, गिलहरियों को दौड़ते, देखता हूं, सूरज
की किरणों में फूलों को खिलते, देखता हूं, संगीत से भरी प्रकृति को। रात्रि सोता हूं। देखता हूं, तारों से झरते मौन को, देखता हूं, सारी सृष्टिं पर छा गयी आनंद-निंद्रा को। और फिर, अपने से पूछने लगता हूं कि मनुष्य को क्या हो गया है?

सब-कुछ आनंद से तरंगित है, केवल मनुष्य को छोड़कर। सब कुछ आनंद से आन्दोलित है, केवल मनुष्य को छोड़ कर। सब दिव्य शांति में विराजमान है, केवल मनुष्य को छोड़ कर।
क्या मनुष्य इस सब का भागीदार नहीं है? क्या मनुष्य कुछ पराया है? अजनबी है?
पर परायापन अपने हाथों लाया गया है। यह टूट अपने हाथों पैदा की गई है। स्मरण आती है बाइबिल की एक पुरानी कथा। मनुष्य ‘ज्ञान का फल’ खाकर आनंद के राज्य से बहिष्कृत हो गया है। यह कथा कितनी सत्य है। ज्ञान ने, बुद्धि ने, मन ने मनुष्य को जीवन से तोड़ दिया है। वह सत्ता में हो कर सत्ता से बाहर हो गया है।
ज्ञान को छोड़ते ही, मन से पीछे हटते ही, एक नये लोक का उदय होता है। उसमें हम प्रकृति से एक हो जाते हैं। कुछ अलग नहीं होता है, कुछ भिन्न नहीं होता है। सब एक शांति में स्पंदित होने लगता है।
यह अनुभूति ही ‘ईश्वर’ है।
ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है। ईश्वर की कोई अनुभूति नहीं होती है, वरन
एक अनुभूति का नाम ही ईश्वर है। ‘उसका’ कोई साक्षात नहीं है, वरन एक साक्षात का ही वह नाम है।
इस साक्षात में मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। इस अनुभूति में वह अपने ‘घर’ आ जाता है। इस प्रकाश में वह फूलों और पत्तियों के सहज-स्फूर्त आनंद का साझीदार होता है। इसमें एक ओर से वह मिट जाता है और दूसरी ओर सत्ता को पा लेता है। यह उसकी मृत्यु भी है और उसका जीवन भी है।

075/ आत्मा कालातीत है

कोई पूछता थाः ‘आत्मा को कैसे पाया जाए? ब्रह्म- उपलब्धि कैसे हो सकती है?’
आत्मा को पाने की बात ही मेरे देखे गलत है। वह प्राप्तव्य नहीं है। वह
तो नित्य प्राप्त है। वह कोई वस्तु नहीं, जिसे लाना है। वह कोई लक्ष्य नहीं, जिसको साधना है। वह भविष्य में नहीं है कि उस तक पहुंचना है। वह है। ‘है’ का ही वह नाम है। वह वर्तमान है- नित्य वर्तमान। उसमें अतीत और भविष्य नहीं है। उसमें ‘होना’ नहीं है। वह शुद्ध नित्य अस्तित्व है।
फिर खोना किस स्तर पर हो गया है या खोने के आभास और पाने की प्यास कहां
आ गयी है?
‘मैं’ को समझ लें तो जो आत्मा खोई नहीं जा सकती है, उसका खोना समझना आ सकता है। ‘मैं’ आत्मा नहीं है। न ‘स्व’ आत्मा है, न ‘पर’ आत्मा है। यह द्वैत वैचारिक है। यह द्वैत मन में है। मन आभास सत्ता है। वह कभी वर्तमान में नहीं होता है। वह या तो अतीत में होता है, या भविष्य में। न अतीत की सत्ता है, न भविष्य की। एक न हो गया है, एक अभी हुआ नहीं है। एक स्मृति में है, एक कल्पना में है। सत्ता में दोनों नहीं हैं। इस असत्ता से ‘मैं’ का जन्म होता है। ‘मैं’ विचार की उत्पत्ति है। काल भी विचार की उत्पत्ति है। विचार के कारण, ‘मैं’ के कारण, आत्मा आवरण में है। वह है, पर खोयी मालूम होती है। फिर, यही ‘मैं’, यही विचार-प्रवाह इस तथाकथित खोयी आत्मा को खोजने चलता है। यह खोज असंभव है, क्योंकि इस खोज से ‘मैं’ और पुष्ट होता है- सशक्त होता है। ‘मैं’ के द्वारा आत्मा को खोजना, स्वप्न के द्वारा जागृति को खोजने जैसा है। ‘मैं’ के द्वारा नहीं, ‘मैं’ के विसर्जन से उसको पाना है। स्वप्न के जाते ही जागृति है, ‘मैं’ के जाते ही आत्मा है। आत्मा शून्यता है, क्योंकि पूर्णता है। उसमें ‘स्व’, ‘पर’ नहीं है। वह अद्वैत है। वह कालातीत है। विचार के, मन के जाते ही जाना जाता है कि उसे कभी खोया नहीं था।
इसलिए उसे खोजना नहीं है। खोज छोड़नी है और खोजने वाले को छोड़ना है। खोज और खोजी के मिटते ही खोज पूरी हो जाती है। ‘मैं’ को खोकर उसे पा लिया जाता है।

076/ साधुता क्या है?

साधुता क्या है? यह प्रश्न अनेकों के मन में है। वस्त्र और बाह्य रूप
से साधुता का संबंध होता, तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। निश्चित ही साधुता बाह्य सत्य नहीं है, कुछ आंतरिक सत्य है। यह आंतरिक सत्य क्या है?
साधुता अपने में होना है। साधारणतः मनुष्य अपने से बाहर है। एक क्षण
भी वह अपने में नहीं है। सब के साथ है, पर वह अपने साथ नहीं है। यह स्व से अलगाव ही असाधुता है। स्व में लौटना, स्वरूप में प्रतिष्ठित होना, स्वस्थ होना साधुता है। आध्यात्मिक अस्वास्थ्य असाधुता है, स्वास्थ्य साधुता है।
मैं बाहर हूं, तो सोया हुआ हूं। बाह्य ‘पर’ है, मूर्च्छा है। ‘पर’ पकड़े हुए है। ‘पर’ ही ध्यान में है। ‘स्व’ ध्यान के बाहर है। यही निद्रा है। महावीर ने कहा, ‘सुत्ता अमुणी’- जो सोता है, सो अमुनि है। इस ‘पर’ की परतंत्रता से ‘स्व’ की स्वतंत्रता में जागना साधु होना है। यह साधुता पहचानी कैसे जाती है?
यह साधुता शांति से, आनंद से, सम्यकत्व से पहचानी जाती है।
एक साधु था, संत फ्रांसिस। वह अपने शिष्य लियो के साथ यात्रा पर था।
वे सेंट मेरिनो जा रहे थे। राह में आंधी-वर्षा आयी। वे भीग गये और कीचड़ से लथपथ हो गये। रात घिर आयी थी और दिनभर की भूख और थकान ने उन्हें पकड़ लिया था। गांव अब भी दूर था और आधी रात के पूर्व पहुंचना संभव नहीं था। तभी फ्रांसिस ने कहाः ‘लियो, वास्तविक साधु कौन है? वह नहीं जो अंधों को आंखें दे सकता है, बीमारों को स्वास्थ्य दे सकता है और मृतकों को भी जिला सकता है। वह वास्तविक साधु नहीं है।’ थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर फ्रांसिस ने कहाः ‘लियो, वास्तविक साधु वह भी नहीं है, जो पशुओं और पौधों और पत्थरों की भाषा समझ ले। सारे जगत का ज्ञान भी जिसे उपलब्ध हो, वह भी वास्तविक साधु नहीं है।’ फिर थोड़ी देर सन्नाटा रहा। वे दोनों अंधी-पानी में चलते रहे। सेंट मेरिनो के दीये दिखाई पड़ने लगे थे। संत फ्रांसिस ने फिर कहाः ‘और वह भी वास्तविक साधु नहीं है, जिसने अपना सब कुछ त्याग दिया है।’
अब लियो से रहा न जा सका। उसने पूछा, ‘फिर वास्तविक साधु कौन है?’
संत फ्रांसिस ने कहा थाः ‘हम मेरिनो पहुंचने को हैं। सराय के बाहर, द्वार को हम खटखटाएंगे। द्वारपाल पूछेगा, ‘कौन हो?’ और हम कहेंगे कि तुम्हारे ही दो बंधु- दो साधु। और यदि वह कहे, ‘भिखारियों, भिखमंगों, मुफ्तखोरों, यहां से भाग जाओ, यहां तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है।’ ओर द्वार बंद कर ले। हम भूखे, थके और कीचड़ से भरे आधी रात में बाहर खड़े रहें और फिर द्वार खटखटायें। वह अब की बार बाहर निकलकर लकड़ी से हम पर चोट करे और कहे, ‘बदमाशो, हमें परेशान मत करो।’ और यदि हमारे भीतर कुछ भी न हो, वहां सब शांत और शून्य बना रहे और उस द्वारपाल में भी हमें प्रभु दिखता रहे, तो यही वास्तविक साधुता है।’
निश्चय ही सब परिस्थितियों में अखंडित शांति, सरलता और समता को उपलब्ध कर लेना ही साधुता है।

077/ मन के साक्षी बनो

एक युवक ने कल रात्रि पूछा थाः ‘मैं अपने मन से लड़ रहा हूं, पर शांति उपलब्ध नहीं होती है। मैं क्या करूं मन के साथ कि शांति पा सकूं?’
मैंने कहाः ‘अंधेरे के साथ कोई कुछ नहीं कर सकता। वह है ही नहीं। वह केवल प्रकाश का न होना है। इसलिए उससे लड़ना अज्ञान है। ऐसा ही मन है। वह भी नहीं है, उसकी भी कोई स्व सत्ता नहीं है। वह आत्म-बोध का अभाव है, ध्यान का अभाव है। इसलिए उसके साथ भी सीधे कुछ नहीं किया जा सकता। अंधेरा हटाना हो,

तो प्रकाश लाना होता है। और मन को हटाना हो, तो ध्यान लाना होता है। मन को नियंत्रित नहीं करना है, वरन जानना है कि वह है ही नहीं। यह जानते ही उससे मुक्ति हो जाती है।’
उसने पूछाः ‘यह जानना कैसे हो?’
‘यह जानना साक्षी चैतन्य से होता है। मन के साक्षी बनें। जो है- उसके साक्षी बनें। कैसे होना चाहिए, इसकी चिंता छोड़ दें। जो है, जैसा है, उसके प्रति जागें, जागरूक हों। कोई निर्णय न लें, कोई नियंत्रण न करें, किसी संघर्ष में न पड़े। बस, मौन होकर देखें। देखना ही- यह साक्षी होना ही मुक्ति बन जाता है।’
साक्षी बनते ही चेतना दृश्य को छोड़ द्रष्टा पर स्थिर हो जाती है। इस स्थिति में अकंप प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध होती है और यही ज्योति मुक्ति है।

078/ धूल का परदा

एक कोने में पड़ा हुआ बहुत दिनों का दर्पण मिला है। धूल ने उसे पूरा का पूरा छिपा रखा है। दिखता नहीं है कि वह अब दर्पण है और प्रतिबिंबों को पकड़ने में समर्थ होगा। धूल सब-कुछ हो गयी है। और दर्पण न-कुछ हो गया है। प्रकटतः धूल ही है और दर्पण नहीं है। पर क्या सच ही धूल में छिपकर दर्पण नष्ट हुआ है? दर्पण अब भी दर्पण है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। धूल ऊपर है और दर्पण में नहीं है। धूल एक परदा बन गयी है। पर परदा केवल आवेष्टित करता है, नष्ट नहीं। और इस पर्दे को हटाते ही- जो है, वह पुनः प्रकट हो जाता है।
एक व्यक्ति से यह कहा है कि मनुष्य की चेतना भी इस दर्पण की भांति ही है। वासना की धूल है उस पर। विकारों का परदा है उस पर। विचारों की परतें हैं उस पर। पर चेतना के स्वरूप में इससे कुछ भी नहीं हुआ है।
वह वही है। वह सदा वही है। परदा हो या न हो, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। सब परदे ऊपर हैं, इसलिए उन्हें खींच देना और अलग कर देना कठिन नहीं है। दर्पण पर से धूल झाड़ने से ज्यादा कठिन चेतना पर से धूल को झाड़ देना नहीं है।
आत्मा को पाना आसान है, क्योंकि बीच में धूल के एक झीने परदे के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। और परदे के हटते ही ज्ञात होता है कि आत्मा ही परमात्मा है।

079/ चित्त-वृत्ति निरोध

एक चित्र देखकर लौटा हूं। परदे पर प्रक्षेपित विद्युत-चित्र कितना मोह लेते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। जहां कुछ भी नहीं है, वहां सब-कुछ हो जाता है। दर्शकों को देखता था, लगता था कि वे अपने को भूल गये हैं। वे अब नहीं हैं और केवल विद्युत-चित्रों का प्रवाह ही सब-कुछ है।
एक कोरा परदा सामने है और पार्श्व से चित्रों का प्रक्षेपण हो रहा है। जो देख रहा है, उनकी दृष्टिं सामने है और पीछे का किसी को कोई ध्यान नहीं है।
इस तरह लीला को जन्म मिलता है। मनुष्य के भीतर और मनुष्य के बाहर भी यही होता है।
एक प्रक्षेप-यंत्र मनुष्य के मन की पार्श्व-भूमि में है। मनोविज्ञान
इस पार्श्व को अचेतन कहता है। इस अचेतन में संग्रहीत वृत्तियां, वासनाएं,

संस्कार चित्त के परदे पर प्रक्षेपित होते रहते हैं। यह चित्त-वृत्तियों का प्रवाह प्रतिक्षण बिना विराम चलता रहता है। चेतना दर्शक है, साक्षी है- वह इस वृत्ति-चित्रों के प्रवाह में अपने को भूल जाती है। यह विस्मरण अज्ञान है। यह अज्ञान, मूल है संसार का, भ्रमण का, जन्म-जन्म के चक्र का। इस अज्ञान से जागना चित्त-वृत्तियों के निरोध में होता है। चित्त जब वृत्ति- शून्य होता है, परदे पर जब चित्रों का प्रवाह रुकता है, तब ही दर्शक को अपनी याद आती है और वह अपने गृह को लौटता है।
चित्त-वृत्तियों के इस निरोध को ही पतंजलि ने योग कहा है। यह साधते ही
सब सध जाता है।

080/ धर्म अमूर्च्छा है

कल एक मंदिर के द्वार पर खड़ा था। धूप जल रही थी और वातावरण सुगंधित था। फिर पूजा की घंटी बजने लगी और आरती का दीप मूर्ति के सामने घूमने लगा। कुछ भक्तजन इकट्ठे थे। वह सब आयोजन सुंदर था और एक सुखद तंद्रा पैदा करता था। लेकिन उन आयोजनों से धर्म का कोई संबंध नहीं है।
किसी मंदिर, किसी मस्जिद, किसी गिरजे का धर्म से कोई संबंध नहीं है। किसी पूजा, किसी अर्चना का धर्म से कोई नाता नहीं है। और सब मूर्तियां पत्थर हैं और सब प्रार्थनाएं दीवारों से की गयी बातचीत के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।
लेकिन इन सब से सुख मिलता मालूम होता है! और वही खतरा है, क्योंकि उसी
के कारण प्रवंचना प्रारंभ होती है और प्रगाढ़ होती है। उस सुख के भ्रम में ही सत्य का आभास पैदा होता है। सुख मिलता है मूर्च्छा से- अपने को भूल जाने और स्व की वास्तविकता से पलायन करने से। मादक द्रव्यों का सुख भी ऐसे ही पलायन से मिलता है। धर्म के नाम पर मूर्च्छा के सब प्रयोग भी मादक द्रव्यों जैसा ही मिथ्या सुख लाते हैं। सुख धर्म नहीं, क्योंकि वह दुख का अंत नहीं, केवल विस्मृति है।
फिर धर्म क्या है?
धर्म स्व से पलायन नहीं, स्व के प्रति जागरण है। इस जागरण का किसी बाह्य आयोजन से कोई वास्ता नहीं है। यह तो भीतर चलने और चैतन्य को उपलब्ध करने से संबंधित है।
मैं जागूं और साक्षी बनूं- जो है, उसके प्रति चेतन बनूं- बस, धर्म इतने
से ही संबंधित है।
धर्म अमूर्च्छा है।
और अमूर्च्छा आनंद है।

081/ शून्य-स्मरण

एक कहानी है।
एक अविवाहित युवती को पुत्र उत्पन्न हो गया था। उसके प्रियजन घबरा गये थे। उन्होंने उससे गर्भ का कारण पूछा। वह बोली कि गांव के बाहर ठहरे हुए साधु ने उसका शील भंग किया है। उसके क्रोधित प्रियजनों ने साधु को घेरकर बहुत बुरा-भला कहा। उस साधु ने सब शांति से सुना और कहा, ‘ऐसा है क्या?’ वह केवल इतना ही बोला था और बच्चे के पालन का भार उसने अपने ऊपर ले लिया था। पर घर लौटकर उस लड़की को पश्चाताप हुआ और उसने यथार्थ बात कह दी। उसने बता दिया कि उसने साधु को तो इसके पूर्व कभी देखा ही नहीं था; लड़के के असली पिता को बचाने के लिए उसने झूठी बात कह दी थी। उसके परिवार के लोग बहुत दुखी हुए। उन्होंने जाकर साधु से क्षमा मांगी। साधु ने सारी बात शांति से सुनी और कहा, ‘ऐसा है क्या?’

जीवन में शांति आ जाए, तो यह सारा जगत और जीवन एक अभिनय से ज्यादा कुछ
भी नहीं रह जाता है। में केवल एक अभिनेता हो जाता हूं। बाहर कहानी चलती जाती है और भीतर शून्य घिरा रहता है। इस स्थिति को पाकर ही संसार की दासता से मुक्ति होती है।
मैं दास हूं, क्योंकि जो भी बाहर से आता है, उससे उद्विग्न होता हूं। कोई भी बाहर से मेरे भीतर को बदल सकता है। मैं इस भांति परतंत्र हूं। बाहर से मुक्ति हो जाये- बाहर कुछ भी हो पर मैं भीतर वही रह सकूं, जो कि हूं, तो स्व का और स्वतंत्रता का प्रारंभ होता है।
यह मुक्ति, शून्य उपलब्धि से शुरू होती है। शून्य होना है। शून्य अनुभव करना है। उठते-बैठते, चलते-सोते जानना है कि मैं शून्य हूं और इसका स्मरण रखना है। शून्य को स्मरण रखते-रखते शून्य होना हो जाता है। श्वास-श्वास में शून्य भर जाता है। भीतर शून्य आता है, तो बाहर सरलता आ जाती है। शून्यता ही साधुता है।

082/ आंख बंद कर तो देखो

आंखें बंद किये बैठा था। आंखों से देखते-देखते मनुष्य आंखें बंद करके देखना ही भूलता जा रहा है। जो आंखों से दिखता है, वह उसके समक्ष कुछ भी नहीं है, जो आंख बंद करके दिख आता है। आंख का छोटा-सा परदा दो दुनियाओं को अलग करता और जोड़ता है।
मैं आंख बंद किये बैठा था कि एक व्यक्ति आये और पूछने लगे कि मैं क्या
कर रहा था! और जब मैंने कहा कि कुछ देख रहा था, तो वे हैरान-से हो गये। शायद उन्होंने सोचा होगा कि आंखें बंद करके देखना भी क्या देखना कहा जा सकता है!
आंख खोलता हूं, तो सीमा में आ जाता हूं। आंख बंद करता हूं, तो असीम के द्वार खुल जाते हैं। इस ओर दृश्य दिखते हैं, उस ओर द्रष्टा दिखाई देता है। एक फकीर स्त्री थी- राबिया। एक सुंदर प्रभात में किसी ने उससे कहा थाः ‘राबिया, भीतर झोपड़े में क्या कर रही हो? यहां आओ, बाहर देखो, प्रभु ने कैसा मनोरम प्रभात को जन्म दिया है।’ राबिया ने भीतर से ही कहा थाः ‘तुम बाहर जिस प्रभात को देख रहे हो, मैं भीतर उसके ही बनाने वाले को देख रही हूं। मित्र, तुम ही भीतर आ जाओ और जो यहां है, उस सौंदर्य के आगे बाहर के किसी सौंदर्य का कोई अर्थ नहीं है।’
पर कितने हैं, जो आंख बंद करके भी बाहर ही नहीं बने रहेंगे? अकेले आंख बंद करने से ही आंख बंद नहीं होती है। आंख बंद है, पर चित्र बाहर के ही बन जाते हैं। पलक बंद हैं, पर दृश्य बाहर के ही उतरे जा रहे हैं। यह आंख का बंद होना नहीं है। आंख के बंद होने का अर्थ हैः शून्यता, स्वप्नों से, विचारों से मुक्ति। विचार और दृश्य के विलीन होने से आंख बंद होती हैं। और फिर जो प्रकट होता है, वह शाश्वत चैतन्य है। वही है सत्, वही है चित्, वही है आनंद। इन आंखों का सब खेल है। आंख बदली और सब बदल जाता है।

083/ ‘पर’ में ‘स्व’ के दर्शन

एक साल हुए कुछ बीज बोये थे। अब उनमें फूल आ गये हैं। कितना चाहा कि फूल सीधे आ जाएं, पर फूल सीधे नहीं आते हैं। फूल लाना हो तो बीज बोने पड़ते हैं, पौधा सम्हालना पड़ता है और तब अंत में प्रतीक्षित का दर्शन होता है। यह प्रक्रिया फूलों के संबंध में ही नहीं, जीवन के संबंध में भी सत्य है।
अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मंचर्य- ये सब जीवन-साधन के फूल हैं। कोई इन्हें सीधे नहीं ला सकता। इन्हें लाने के लिए आत्म-ज्ञान के बीज बोने पड़ते हैं। उसके आते ही ये सब अपने आप चले आते हैं।

आत्म-ज्ञान मूल है, शेष सब उसके परिणाम हैं।
जीवन के बाह्य आचार का कुरूप होना, आंतरिक सड़न का प्रतीक होता है और उसका सौंदर्य आंतरिक जीवन और संगीत की प्रतिध्वनि होता है।
इससे लक्षणों को बदलने और परिवर्तन करने से कुछ भी नहीं हो सकता है।
मूलतः जहां विकार की जड़े हैं, वहीं बदलाहट करनी है।
आत्म-अज्ञान विकार की जड़ है। ‘मैं कौन हूं?’- यह जानना है। यह जानते ही अभय और अद्वैत की उपलब्धि होती है। अद्वैत बोध- यह बोध कि जो मैं हूं, वही दूसरा भी है- समस्त हिंसा को जड़ से नष्ट कर देता है और परिणाम में आती है अहिंसा। ‘पर’ को ‘पर’ जानना हिंसा है। ‘पर’ में ‘स्व’ के दर्शन अहिंसा है और अहिंसा है, धर्म की आत्मा।

084/ केवल आनंद ही नित्य है

रात्रि पानी बरसा और मैं भीतर आ गया था। खिड़कियां बंद थी और बड़ी घुटन मालूम होने लगी थी। फिर खिड़कियां खोलीं और हवा के नये झोंकों से ताजगी बही- और फिर मैं कब सो गया, कुछ पता नहीं।
सुबह एक सज्जन आये थे। उन्हें देखकर रात की घुटन याद आ गयी थी। लगा जैसे उनके मन की सारी खिड़कियां, सारे द्वार बंद हैं। एक भी झरोखा उन्होंने अपने भीतर खुला नहीं छोड़ा है, जिससे बाहर की ताजी हवाएं, ताजी रोशनी भीतर पहुंच सके। और मुझे सब बंद दिखने लगा। मैं उनसे बातें कर रहा था और मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे कि मैं दीवारों से बातें कर रहा हूं। फिर मैंने सोचा, अधिक लोग ऐसे ही बंद हैं और जीवन की ताजगी और सौंदर्य तथा नयेपन से वंचित हैं।
मनुष्य अपने ही हाथों अपने को एक कारागार बना लेता है। इस कैद में घुटन और कुंठा मालूम होती है, पर उसे मूल कारण का- ऊब और घबराहट के मूल स्त्र्रोत का- पता नहीं चलता है। समस्त जीवन ऐसे ही बीत जाता है।
जो मुक्त गगन में उड़ने का आह्लाद ले सकता था, वह एक तोते के पिंजरे में बंद सांसें तोड़ देता है।
चित्त की दीवारें तोड़ देने पर खुला आकाश उपलब्ध हो जाता है और खुला आकाश ही जीवन है। यह मुक्ति प्रत्येक पा सकता है और यह मुक्ति प्रत्येक को पा लेनी है।
यह मैं रोज कह रहा हूं, पर शायद मेरी बात सब तक पहुंचती नहीं है। उनकी दीवारें मजबूत हैं। पर दीवार कितनी भी मजबूत क्यों न हों, वे मूलतः कमजोर और दुखद हैं। उनके विरोध में यही आशा कि किरण है कि दुखद हैं। और जो दुखद है, वह ज्यादा देर टिक नहीं सकता है। केवल आनंद ही नित्य हो सकता है।

085/ दृष्टि को भीतर ले चलना है

धूप में मंदिर कलश चमक रहे हैं। आकाश खुला है और राह पर लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही है। मैं राह चलते लोगों को देखता हूं, पर न मालूम क्यों ऐसा नहीं लगता कि वे जीवित हैं। जीवन का, अस्तित्व का बोध न हो, तो किसी को जीवित कैसे कहा जा सकता है! जीवन आता है और कब व्यय हो जाता है, यह जैसे ज्ञात नहीं हो पाता है। साधरणतः जब मृत्यु की घड़ियां आती हैं, तब जीवन का बोध होता है।
एक कहानी पढ़ी थी।
एक व्यक्ति था- बिल्कुल भुलक्कड़। वह भूल ही गया था कि वह जीवित है।
फिर एक दिन वह सुबह उठा और उसने पाया कि वह मर गया है, तब उसे ज्ञात हुआ कि वह जीवित भी था! इस कहानी में बहुत सत्य है।

मैं इस कहानी का स्मरण कर रहा हूं। बहुत हँसी आती है कि मरकर भी किसी
ने पाया है कि वह जीवित था; पर हँसी धीरे-धीरे उदासी में बदल जाती है। यह कैसी दयनीय स्थिति है!
मैं यह सोच ही रहा हूं कि कुछ लोग आ गये हैं। उन्हें देखता हूं, उनकी बातें सुनता हूं, उनकी आंखों में झांकता हूं। जीवन उनमें कहीं भी नहीं है। वे तो जैसे छायाओं की तरह हैं। सारा जगत छायाओं से भर गया है। अपने ही हाथों अधिक लोग प्रेत-लोक में रह रहे हैं। और इन छायाओं के भीतर जीवित आग है- जीवन है, लेकिन उन्हें इसका पता नहीं है। इस छाया-जीवन के भीतर वास्तविक जीवन है और इस प्रेत-जीवन के पार सत्य-जीवन भी है, जिसे अभी और यहीं पाया जा सकता है।
और, इसे पाने की शर्त कितनी छोटी है!
और, इसे पाने का उपाय कितना सरल है!
कल मैंने कहा है, ‘दृष्टि को भीतर ले चलना है।’

086/ नास्तिक होना, अधार्मिक होना नहीं!

एक युवक ने आकर कहा है, ‘मैं नास्तिक हो गया हूं।’
मैं उसे देखता हूं। उसे पहले से जानता हूं। जीवन-सत्य को जानने की उसकी प्यास तीव्र है। वह किसी भी मूल्य पर सत्य को अनुभव करना चाहता है। उसमें तीव्र प्रतिभा है और सतही आस्थाएं उसे तृप्त नहीं करती हैं। संस्कार, परंपरा और रूढ़ियां उसे कुछ भी नहीं दे पा रही हैं। वह संदेहों और शंकाओं से घिर गया है। सारे मानसिक सहारे और धारणाएं खंडित हो गयी हैं और वह उसके एक घने नकार में डूब गया है।
मैं चुप हूं। वह दुबारा बोला है, ‘ईश्वर पर से मेरी श्रद्धा हट गयी है। कोई ईश्वर नहीं है। मैं अधार्मिक हो गया हूं।’
मैं उससे कहता हूं कि यह मत कहो। नास्तिक होना, अधार्मिक होना नहीं है। वास्तविक आस्तिकता पाने के लिए नकार से गुजरना ही होता है। वह अधार्मिक होने का नहीं, वस्तुतः धार्मिक होने का प्रारंभ है। संस्कारों से, शिक्षण से, विचारों से मिली आस्तिकता कोई आस्तिकता नहीं है। जो उससे तृप्त है, वह भ्रांति में है। वह विपरीत विचारों में पलता तो उसका मन विपरीत निर्मित हो सकता था। और फिर वह उससे ही तृप्त हो जाता।
मन पर पड़े संस्कार परिधि की, सतह की घटना है। वह मृत पर्त है। वह उधार
और बासी स्थिति है। कोई भी सचमुच आत्मिक जीवन के लिये प्यासा व्यक्ति, उस काल्पनिक जल से अपनी प्यास नहीं बुझा सकता है। और इस अर्थ में वह व्यक्ति धन्यभागी है। क्योंकि वास्तविक जल को पाने की खोज इसी बेबुझी प्यास से प्रारंभ होती है। ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम ईश्वर की धारणा से सहमत नहीं हो। क्योंकि यह असहमति ईश्वर के सत्य तक तुम्हें ले जा सकती है।
मैं उस युवक के चेहरे पर एक प्रकाश फैलते देखता हूं। एक शांति और एक आश्वासन उसकी आंखों में आ गया है। जाते समय में उससे कह रहा हूं, ‘इतना स्मरण रखना कि नास्तकिता धार्मिक जीवन की शुरुआत है। वह अंत नहीं है। वह पृष्ठभूमि है, पर उस पर ही रुक नहीं जाना है। वह रात्रि है, उसमें ही डूब नहीं जाना है। उसके बाद ही, उससे ही, सुबह का जन्म होता है।’

087/ मुक्ति के लिए स्वयं को खोना होगा

कल रात्रि नगर से दूर एक अमराई में बैठा था। थोड़ी सी बदलियां थीं और उनके बीच चांद निकलता-छिपता जा रहा था। प्रकाश और छाया की इस लीला में कुछ लोग देर तक मौन मेरे पास थे।
कभी-कभी बोलना कितना कठिन हो जाता है। वातावरण में जब एक संगीत घेरे होता है, तब डर लगता है कि कहीं बोलने से वह टूट न जाए। ऐसा ही कल रात हुआ।

बहुत रात गये घर लौटे। राह में कोई कह रहा था कि जीवन में मौन का अनुभव पहली बार हुआ है। यह सुना था कि मौन अदभुत आनंद है, पर जाना इसे आज है। पर आज तो यह अनायास हुआ है, फिर दुबारा यह कैसे होगा?
मैंने कहा, ‘जो अनायास हुआ है, वह अनायास ही होता है। प्रयास से वह नहीं आता है।’ प्रयास स्वयं अशांति है। प्रयास का अर्थ है कि जो है, उससे कुछ भिन्न चाहा जा रहा है। यह स्थिति तनाव की है। तनाव में तनाव ही पैदा होता है। अशांति में किया गया कुछ भी, अशांति ही लाता है। अशांति शांति में नहीं बदलती है। शांति चेतना की एक भिन्न स्थिति है। जब अशांति नहीं होती है, तब उसका होना होता है।
कुछ न करें, कोई प्रयास न करें, सब करना छोड़ दें और केवल देखते रह जायें। और फिर पाया जाता है कि एक नयी चेतना, एक नया प्रकाश आहिस्ता- आहिस्ता उतरता चला आ रहा है। इस नये लोक में जो पाया जाता है, वही वस्तुतः है। जो है, उसका उद्घाटन आनंद है, उसका उद्घाटन मुक्ति है। यह विराट हमारे क्षुद्र प्रयासों से नहीं, हमारे ‘मैं’ से नहीं, वरन जब प्रयास नहीं होते, जब ‘मैं’ नहीं होता, तब आता है।
संसार में जो भी पाया जाता है, वह क्रिया से, कर्म से पाया जाता है। प्रयास वहां साधन है। ‘मैं’ वहां केंद्र है। प्रत्येक प्राप्ति इसलिए ‘मैं’ को मजबूत कर जाती है। वस्तुतः पाने में ‘मैं’ को मजबूत करने और फैलाने का ही सुख है। पर यह ‘मैं’ कभी पूरा नहीं भरता है। यह स्वभाव से दुष्पूर है। इसलिए सुख प्रतीत ही होता है, कभी उसे पाया नहीं जाता है। इससे जिन्होंने जाना, उन्होंने कहा कि संसार में दुख है। संसार में हम जो करते हैं, वही हम मुक्ति के लिये भी करते हैं। उसे भी पाने में लग जाते हैं और यहीं भूल हो जाती है। उसे पाना नहीं, वरन अपने को खोना है। अपने को खोते ही, उसे पा लिया जाता है।

088/ ईश्वर की खोज

कल रात्रि नदि के तट पर था। नदी की धार चांदी के फीते की भांति दूर तक चमकती चली गयी है। एक मछुआ डोंगी को खेता हुआ आया था और देर से बोलते हुए जल-पक्षी उसकी आवाज से चुप हो गये थे। एक मित्र साथ थे। उन्होंने एक भजन गाया था और फिर बात ईश्वर पर चली गयी थी। गीत में भी ईश्वर की खोज की बात थी। जिन्होंने इसे गाया था, उनके जीवन के अनेक वर्ष ईश्वर की तलाश में ही बीते हैं। मेरा परिचय उन से कल ही हुआ था। विज्ञान के स्नातक हैं और फिर किसी दिन ईश्वर की धुन ने उन्हें पकड़ लिया था। तब से अनेक वर्ष इसी धुन में गये हैं, पर कुछ उपलब्ध नहीं हुआ है। मैं भजन सुनकर चुप था। उनकी आवाज मधुर थी और मन को छूती थी। फिर भजन के पीछे हृदय था और उस कारण गीत जीवित हो उठा था। मेरे मन में उसकी प्रतिध्वनि गूंज रही थी, पर उन्होंने इस मौन को तोड़कर अनायास पूछा था, ‘यह ईश्वर की तलाश कहीं भ्रम ही तो नहीं है? पहले मैं आशा से भरा था, पर फिर धीरे-धीरे निराश होता गया हूं।’ मैं फिर थोड़ी देर चुप रहा और बाद में कहा, ‘ईश्वर की तलाश भ्रम ही है, क्योंकि ईश्वर खोजने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह सदा ही उपस्थित है। पर हमारे पास, उसे देख सके, ऐसी आंखें नहीं हैं, इसलिए असली खोज सम्यक-दृष्टिं को पाने की है।’ एक अंधा आदमी था। वह सूरज को खोजना चाहता था। वह खोज गलत थी। सूरज तो है ही, आंखें खोजनी है। आंखें पाते ही सूरज मिल जाता है। साधरणतः ईश्वर का तलाशी, सीधे ईश्वर को खोजने में लग जाता है। वह अपनी आंखों का विचार ही नहीं करता है। यह आधारभूत भूल परिणाम में निराशा लाती है। मेरा देखना विपरीत है। मैं देखता हूं कि असली प्रश्न मेरा है और मेरे परिवर्तन का है। मैं जैसा हूं, मेरी आंखें जैसी हैं, वही मेरे ज्ञान की और दर्शन की सीमा है। मैं बदलूं, मेरी आंखें बदलें, मेरी चेतना बदले, तो जो भी अदृश्य है, वह दृश्य हो जाता है। और फिर जो अभी हम देख रहे हैं, उसकी ही गहराई में ईश्वर उपलब्ध हो जाता है। संसार में ही प्रभु उपलब्ध हो जाता है। इसलिए मैं कहता हूंः धर्म ईश्वर को पाने का नहीं, वरन नई दृष्टि, नई चेतना पाने का विज्ञान है। प्रभु

तो है ही, हम उसमें ही खड़े हैं, उसमें ही जी रहे हैं। पर आंखें नहीं हैं, इसलिए सूरज दिखाई नहीं देता है। सूरज को नहीं, आंखों को खोजना है।

089/ पांचवां आर्य सत्य

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्य कहे हैं- दुख, दुख का कारण, दुख-निरोध और दुख-निरोध का मार्ग। जीवन में दुख है। दुख का कारण है। इस दुख का निरोध हो सकता है और दुख-निरोध का मार्ग है।
मैं पांचवां आर्य सत्य भी देखता हूं। और यह पांचवां इन चारों के पूर्व है। वह है, इसलिये ये चारों हैं। वह न हो, तो ये चारों भी नहीं रह सकते हैं।
यह पांचवां या प्रथम आर्य-सत्य क्या है?
वह सत्य है-दुख के प्रति मूर्च्छा। दुख है, पर हम उसके प्रति मूर्च्छित हैं। इस मूर्च्छा से ही वह हमें दिखता नहीं है। इस मूर्च्छा से ही हम उसमें होते हैं, पर वह हमें संतप्त नहीं करता है। इस धुंधली सी बेहोशी में, तंद्रा में जीवन बीतता है और जो दुख था, वह झेल लिया जाता है। इस मूर्च्छा में, अचेतन में- जो है, वह आंख में नहीं आता है और जो नहीं है, उसके स्वप्न चलते रहते हैं। वर्तमान के प्रति अंधापन होता है और भविष्य में दृष्टि बनी रहती है। भविष्य के सुखद स्वप्नों के नशे में वर्तमान का दुख डूबा रहता है। इस विधि से दुख दिखता नहीं है और उसके पार उठने का प्रश्न भी नहीं उठता है।
एक कैदी को यदि अपने कारागृह की दीवारों और जंजीरों का बोध ही न हो, तो उसमें मुक्ति की आकांक्षा को पैदा होने का प्रश्न ही कहां रहता है?
इससे इस सत्य को कि हम दुख के प्रति मूर्च्छित हैं- जीवन दुख है, यह सत्य हमारी चेतना में नहीं है- इसे मैं प्रथम आर्य-सत्य कहता हूं। शेष चारों बाद में आते हैं। दुख के प्रति मेरे जागते ही उनका दर्शन होता है।

090/ तीन बातें

मैं उंगलियों पर गिनी जा सकें, इतनी बातें कहता हूंः
1. मन को जानना है, जो इतना निकट है, फिर भी इतना अज्ञात है।
2. मन को बदलना है, जो इतना हठी है, पर परिवर्तित होने को इतना आतुर है।
3. मन को मुक्त करना है, जो पूरा बंधन में है, किंतु ‘अभी और यहीं’ मुक्त
हो सकता है।
ये तीन बातें भी कहने की हैं, करना तो केवल एक ही काम है। वह हैः मन को जानना। शेष दो उस एक के होने पर अपने आप हो जाती हैं। ज्ञान ही बदलाहट है, ज्ञान ही मुक्ति है।
यह कल कहता था कि किसी ने पूछा, ‘यह जानना कैसे हो?’
यह जानना-जागने से होता है। शरीर और मन दोनों की हमारी क्रियाएं मूर्च्छित हैं। प्रत्येक क्रिया के पीछे जागना आवश्यक है। मैं चल रहा हूं, मैं बैठा हूं या में लेटा हूं, इसके प्रति सम्यक स्मरण चाहिए। मैं बैठना चाहता हूं, इस मनोभाव या इच्छा के प्रति भी जागना है। चित्त पर क्रोध है या क्रोध नहीं है, इस स्थिति को भी देखना है। विचार चल रहे हैं या नहीं चल रहे हैं, उनके प्रति भी साक्षी होना है।
यह जागरण दमन से या संघर्ष से नहीं हो सकता है। कोई निर्णय नहीं लेना है। सद्-असद के बीच कोई चुनाव नहीं करना है। केवल जागना है- बस जागना है। और जागते ही मन का रहस्य खुल जाता है। मन जान लिया जाता है। और केवल जानने से परिवर्तन हो जाता है। और परिपूर्ण जानने से मुक्ति हो जाती है।
इससे मैं कहता हूं कि मन की बीमारी से मुक्ति आसान है, क्योंकि यहां निदान ही उपचार भी है।

091/ ज्ञान, बुद्धि और स्मृति

दोपहर ढलने को है। आकाश अभी खुला था, फिर जोर की हवाएं आयीं और अब काली बदलियों में वह ढंका जा रहा है।
सूरज छिप गया है और हवाओं में ठंडक है।
एक फकीर द्वार पर आया है। उसके हाथ में एक तोता है। पिंजरा नहीं है, पर दिखता है कि तोता उड़ना भूल चुका है। आते ही फकीर नहीं, तोता ही बोला है, ‘राम कहो, राम कहो, राम... राम... राम।’ मैंने कहा, ‘तोता तो अच्छा बोलता है।’ फकीर बोला, ‘महाराज, यह तोता बड़ा पंडित है!’ यह सुन मुझे हंसी आ गयी। मैंने कहा, ‘होना चाहिए, क्योंकि सभी पंडित तोते ही होते हैं!’
यह मुझे बहुत स्पष्ट दिखता है कि ज्ञान सीखने से नहीं आता है और जो सीखने से आता है, वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान बुद्धि की उपलब्धि नहीं है। बुद्धि स्मृति है और स्मृति से नहीं, स्मृति के हट जाने से ज्ञान आता है। जो सीख जाता है, वह तोता बन जाता है। इस तोता-रटन का नाम पांडित्य है। ज्ञान के मार्ग में इससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है।
पांडित्य मृत तथ्यों का संग्रह है। ये तथ्य सब आधार हैं। अनुभूति में इनकी कोई जड़े नहीं होती हैं। इन मृत तथ्यों से घिरा चित्त, उसके दर्शन नहीं कर पाता है, जो कि ‘है’। ये तथ्य परदा बन जाते हैं। इस परदे को हटाने पर अज्ञात का उदघाटन होता है। यह दर्शन ही ज्ञान है। सीखना नहीं- दर्शन ही ज्ञान है। ग्रंथ नहीं, तथ्य नहीं- सत्य-दृष्टि उस उपलब्धि का मार्ग है। सत्य-दर्शन जब होता है, तब पाया जाता है कि ज्ञान तो था ही, केवल उसे देख पाने की दृष्टि हमारे पास नहीं थी। और, इस दृष्टि को पांडित्य के संग्रह से नहीं पाया जा सकता था।
इससे आत्म-प्रवंचना भर हो सकती थी। और कुछ भी नहीं। बिना जाने ही यह अहं-तृप्ति हो सकती थी, कि मैं जानता हूं। इसलिए कहा है कि यह जानना कि ‘मैं जानता हूं’, अज्ञान है। क्यों? क्योंकि जानने पर पाया जाता है कि मैं हूं ही नहीं। केवल ज्ञान है- न ज्ञाता है, न ज्ञेय है।
यह अद्वैत दर्शन तब होता है, जब सब छोड़कर मैं शून्य हो जाता हूं।

092/ शरीर-दमन अध्यात्म नहीं है

संध्या उतर आई है और सांध्य-कुसुमों की गंध उड़ने लगी है।
एक कोयल दोपहर भर कूकती रही है और अब चुप हो गयी है। वह गाती थी, तो इतनी ख्याल में नहीं थी, अब मौन क्या हुई है कि ख्याल में हो आयी है। मैं उसके फिर से स्वर उठाने की प्रतीक्षा कर रहा हूं कि इसी बीच एक साधु का आगमन हुआ है। बाल-ब्रह्मचारी हैं- सूखी, कृश, अस्वस्थ-सी देह है। चेहरा बुझा-बुझा और निस्तेज है। आंखों का पानी उड़ गया है। उन्हें देख बहुत दया आयी है। शरीर पर अनाचार किया है। यह मैंने उनसे कहा है। वे तो कुछ चौंक-से गये हैं। इसे ही वे त्याग मानते हैं। अस्वास्थ्य जैसे आध्यात्मिक है! कुरूपता और विकृति जैसे योग है! असौंदर्य की साधना ही जैसे जैसे साधना है! काउंट कैसरलिंग ने कहीं लिखा है, ‘स्वास्थ्य आध्यात्म-विरोधी आदर्श है।’ उनकी पंक्ति में इसी अज्ञान की गूंज है। यह विचार प्रतिक्रिया-जन्य है। कुछ है, जो शरीर के पीछे है, शरीर ही उन्हें सब-कुछ है। यह एक अति है। फिर इसकी प्रतिक्रिया से दूसरी अति पैदा होती है। पर दोनों ही अतियां शरीरवादी हैं। शरीर को न तो उछालते फिरना है, न उसे तोड़ते फिरना है। वह तो कुल जमा आवास है। उसका स्वस्थ और अच्छा होना आवश्यक है।
आध्यात्मिक जीवन स्वास्थ्य-विरोध नहीं है। वह तो परिपूर्ण स्वास्थ्य है। वह तो एक लययुक्त, संगीतपूर्ण सौंदर्य की स्थिति का ही पर्यायवाची है।

शरीर-दमन आध्यात्म नहीं है। वह तो केवल भोगवादी वृत्तियों का शीर्षासन है। वह तो भोग की प्रतिक्रिया मात्र है। उसमें ज्ञान नहीं, अज्ञान और आत्म-हिंसा है। वह वृत्ति हिंसक है। उसमें कोई कहीं नहीं पहुंचता है। शरीर का दमन नहीं करना है। वह तो बेचारा उपकरण है और अनुगामी है। वह तो, मैं जैसा हूं, वैसा हो जाता है। मैं वासना हूं, तो वह वहां साथ देता है। मैं साधना हो जाऊं, तो वह वहां साथी हो जाता है। वह मेरे पीछे है। परिवर्तन उसमें नहीं- वह जिसके पीछे है, उसमें करना है।

093/ मोक्ष

मैं शांति, आनंद और मुक्ति की बातें कर रहा हूं। जीवन की वही केंद्रीय खोज है। वह पूरी न हो, तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। कल यह कह रहा था कि एक युवक ने पूछा कि क्या सभी को मोक्ष मिल सकता है? और यदि मिल सकता है, तो फिर मिल क्यों नहीं जाता?
एक कहानी मैंने उससे कहीः गौतम बुद्ध के पास एक प्रभात किसी व्यक्ति
ने भी यही पूछा था। उन्होंने कहा था कि जाओ और नगर में पूछकर आओ कि जीवन में कौन क्या चाहता है? वह व्यक्ति घर-घर गया और संध्या को थका-मांदा एक फेहरिस्त लेकर लौटा। कोई यश चाहता था, कोई पद चाहता था, कोई धन, वैभव, समृद्धि, पर मुक्ति का आकांक्षी तो कोई भी नहीं था! बुद्ध बोले थे कि अब बोलो, अब पूछो; मोक्ष तो प्रत्येक को मिल सकता है। वह तो है ही, पर तुम एक बार उस ओर देखो भी तो! हम तो उस ओर पीठ किये खड़े हैं।
यही उत्तर मेरा भी है। मोक्ष प्रत्येक को मिल सकता है, जैसे कि प्रत्येक बीज पौधा हो सकता है। वह हमारी संभावना है, पर संभावना को वास्तविकता में बदलना है। इतना मैं जानता हूं कि बीज को वृक्ष बनाने का यह काम कठिन नहीं है। यह बहुत ही सरल है। बीज मिटने को राजी हो जाए, तो अंकुर उसी क्षण आ जाता है। मैं मिटने को राजी हो जाऊं, तो मुक्ति उसी क्षण आ जाती है। ‘मैं’ बंधन है। वह गया कि मोक्ष है।
‘मैं’ के साथ मैं संसार में हूं, ‘मैं’ नहीं कि मैं ही मोक्ष हूं।

094/ पूर्ण होने की इच्छा

एक वर्ष हुआ। बीती बरसात में गुलतेवरी के फूल बोये थे। वर्षा गयी तो साथ ही फूल भी चले गये थे। फिर सूखे पौधों को अलग कर दिया था। इस बार देखता हूं कि वर्षा आयी है, तो गुलतेवरी के अंकुर फिर अपने आप ही फूट रहे हैं। जगह-जगह भूमि को तोड़कर उन्होंने झंकना शुरू किया है। एक वर्ष तक, विगत वर्ष छूटे बीजों ने प्रतीक्षा की है और अब उनको पुनः जन्म पाते देखना आनंदपूर्ण है। भूमि के अंधेरे में, सर्दी और गर्मी में वे प्रतीक्षा करते रहे हैं और अब कहीं जाकर उन्हें पुनः प्रकाश पाने का अवसर मिला है। इस उपलब्धि पर उन नवजात पौधों में मंगल-संगीत छाया हुआ है। उसे मैं अनुभव करता हूं।
सदियों पूर्व किसी अमृत कंठ ने गया था, ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय।’ अंधेरे
से प्रकाश पाने की आकांक्षा किसे नहीं है! क्या मनुष्य में, क्या प्राणी में, ऐसे बीज नहीं छिपे हैं, जो प्रकाश पाना चाहते हें? क्या वहां भी जन्मों-जन्मों से अवसर की प्रतीक्षा और प्रार्थना नहीं है?
प्रत्येक के भीतर छिपे हैं, ये बीज और इन बीजों से ही पूर्ण होने की प्यास उठती है। प्रत्येक के भीतर छिपी हैं, ये लपटें और ये लपटें सूरज को पाना चाहती हैं। इन बीजों को पौधों में बदले बिना कोई तृप्त नहीं होत है। पूर्ण हुए बिना कोई मार्ग नहीं है। पूर्ण होना ही होता है, क्योंकि मूलतः प्रत्येक बीज पूर्ण ही है।

095/ योग का सार सूत्र

नई सुबह। नया सूरज। नयी धूप। नये फूल। सोकर उठा हूं। सब नया-नया है। जगत में कुछ भी पुराना नहीं है।

कई सौ वर्ष पहले यूनान में हेराक्लतु ने कहा था, 'एक ही नदी में दो बार उतरना असंभव है।'

सब नया है, पर मनुष्य पुराना पड़ जाता है। मनुष्य नये में जीता ही नहीं, इसलिए पुराना पड़ जाता है। मनुष्य जीता है - स्मृति में, अतीत में, मृत में। यह जीना ही है, जीवन नहीं है। यह अर्ध-मृत्यु है और इस अर्ध-मृत्यु को ही हम जीवन मानकर समाप्त हो जाते हैं। जीवन न अतीत में है, न भविष्य में है। जीवन तो नित्य वर्तमान में है।

वह जीवन योग से मिलता है, क्योंकि योग चिर-नवीन में जगा देता है। योग चिर-वर्तमान में जगा देता है। उसमें जागना है - 'जो है'। 'जो था' वह भी नहीं है। 'जो होगा', वह भी नहीं है और 'जो है', वह प्रकट तब होता है, जब मानव-चित्त स्मृति और कल्पना के भार से मुक्त होता है।

स्मृति मृत का संकलन है, उसमें जीवन को नहीं पाया जा सकता है। और कल्पना भी स्मृति की ही पुत्री है। वह उसकी ही प्रतिध्वनि और प्रक्षेप है। वह सब ज्ञात में भटकना है। उससे जो अज्ञात है, उसके द्वार नहीं खुलते हैं।

ज्ञात को जाने दो, ताकि अज्ञात प्रकट हो सके। मृत को जाने दो, ताकि जीवित प्रकट हो सके। योग का सार सूत्र यही है।

096/ स्व में होना ही दुख-निरोध है

रात्रि घनी हो रही है। आकाश में थोड़े से तारे हैं और पश्चिम में खंडित चांद लटका हुआ है। बेला खिली है और उसकी गंध हवा में तैर रही है।

मैं एक महिला को द्वार तक छोड़कर वापस लौटा हूं। में उन्हें जानता नहीं हूं। कोई दुख उनके चित्त को घेरे है। उसकी कालिमा उनके चारों ओर एक मंडल बनकर खड़ी हो गयी है।

यह दुख मंडल उनके आते ही मुझे अनुभव हुआ था। उन्होंने भी, बिना समय खोये, आते ही पूछा था कि 'क्या दुख मिटाया जा सकता है?' मैं उन्हें देखता हूं, वे दुख की प्रतिमा मालूम होती हैं।

और सारे लोग ही धीरे-धीरे ऐसी ही प्रतिमाएं होते जा रहे हें। वे सभी दुख मिटाना चाहते हैं, पर नहीं मिटा पाते हैं, क्योंकि दुख का, उनका निदान सत्य नहीं है।

चेतना की एक स्थिति में दुख होता है। वह उस स्थिति का स्वरूप है। उस स्थिति के भीतर दुख से छुटकारा नहीं है। कारण, वह स्थिति ही दुख है। उसमें एक दुख हटायें, तो दूसरा आ जाता है। यह श्रंखला चलती जाती है। इस दुख से छूटें, उस दुख से छूटें, पर दुख से छूटना नहीं होता है। दुख बना रहता है, केवल निमित्त बदल जाते हैं। दुख से मुक्ति पाने से नहीं, चेतना की स्थिति बदलने से ही दुख निरोध होता है - दुख-मुक्ति होती है।

एक अंधेरी रात गौतम बुद्ध के पास एक युवक पहुंचा थाः दुखी, चिंतित, संताप ग्रस्त। उसने जाकर कहा था, 'संसार कैसा दुख है, कैसी पीड़ा है!' गौतम बुद्ध बोले थे, 'मैं जहां हूं, वहां आ जाओ; वहां दुख नहीं है, वहां संताप नहीं है।'

एक चेतना है, जहां दुख नहीं है। इस चेतना के लिए ही बुद्ध बोले थे, 'जहां मैं हूं।' मनुष्य की चेतना की दो स्थितियां हैं, अज्ञान की और ज्ञान की, पर-तादात्म्य की और स्व-बोध की। मैं जब तक 'पर' से तादात्म्य कर रहा हूं, तब तक दुख है। यह पर-बंधन ही दुख है। 'पर' से मुक्त होकर 'स्व' को जानना और

स्व में होना दुख-निरोध है। मैं अभी ‘मैं’ नहीं हूं, इससे दुख है। मैं जब वस्तुतः ‘मैं’ होता हूं, तब दुख मिटता है।

097/ जहां मृत्यु जीवन है

आकाश आज तारों से नहीं भरा है। काली बदलियां घिरी हैं और रह-रह कर बूंदे पड़ रही हें।
रातरानी के फूल खिल गये हैं और हवाएं सुवासित हो गयी हैं।
मैं हूं ऐसा कि जैसे नहीं ही हूं और न होकर, होना पूर्ण हो गया है। एक जगत है, जहां मृत्यु जीवन है और जहां खो जाना, पा जाना है। एक दिन सोचता था, बूंद को सागर में गिरा देना है। अब पाता हूं कि यह तो सागर ही बूंद में गिर आया है।
मनुष्य का ‘होना’ ही उसका बंधन है। उसका शून्य होना मुक्ति है। यह ‘होना’ की गांठ व्यर्थ ही भटकाती है। और शून्य होने का भय पूर्ण होने से रोकता है। जब तक ‘न-कुछ’ होने की तैयारी नहीं है, तब तक मनुष्य ‘न-कुछ’ ही बना रहता है। मृत्यु में उतरने का जब तक साहस नहीं है, तब तक मृत्यु में ही भटकना होता है। पर जो मृत्यु लेने को तैयार हो जाता है, वह पाता है कि मृत्यु है ही नहीं। और जो मिटने को राजी हो जाता है, वह पाता है कि उसमें कुछ है जो कि मिट ही नहीं सकता है।
ऐसा विरोध का नियम, जीवन का नियम है। इस नियम को जानना योग है। और ठीक
से जान लेना उसके बाहर हो जाना है। विरोध के इस नियम का ज्ञात न होना ही भटकाता है। उसके ज्ञात हो जाने से भटकन समाप्त हो जाती है। और वह उपलब्ध होता है, जो कि यात्रा का पड़ाव नहीं, यात्रा का अंत है।

098/ स्व-अज्ञान मूर्च्छा है

एक पूर्णिमा की रात्रि मधुशाला से कुछ लोग नदी-तट पर नौका-विहार को गये थे। उन्होंने एक नौका को खेया, अर्ध-रात्रि से प्रभात तक वे अथक पतवार चलाते रहे थे। सुबह सूरज निकला, ठंडी हवाएं बहीं तो उनकी मधु-मूर्च्छा टूटने लगी। उन्होंने सोचा कि अब वापस लौटना उचित है। यह देखने के लिए कि कहां तक चले आये हैं, वे नौका से तट पर उतरे। पर तट पर उतरते ही उनकी हैरानी की सीमा न रही, क्योंकि उन्होंने पाया कि नौका वहीं खड़ी है, जहां रात्रि उन्होंने उसे पाया था!
रात्रि वे भूल ही गये थे कि पतवार चलाना भर पर्याप्त नहीं है; नौका को
तट से खोलना भी पड़ता है।
आज संध्या यह कहानी कही है। एक वृद्ध आये थे। वे कह रहे थे, मैं जीवन
भर चलता रहा हूं, लेकिन अब अंत में ऐसा लगता है कि कहीं पहुंचना नहीं हुआ। उनसे ही यह कहानी कहनी पड़ी है। मनुष्य मूर्च्छित है। स्व-अज्ञान उसकी मूर्च्छा है।
इस मूर्च्छा में समस्त कर्म उसका यांत्रिक है। इस विवेक-शून्य स्थिति में वह चलता है, जैसे कोई निद्रा में चलता है, पर कहीं पहुंच नहीं पाता है। नाव की जंजीर जैसे तट से बंधी रह गयी थी, ऐसे ही इस स्थिति में वह भी कहीं बंधा रह जाता है।
इस बंधन को धर्म ने वासना कहा है। वासना से बंधा मनुष्य, आनंद के निकट पहुंचने के भ्रम में बना रहता है। पर उसकी दौड़ एक दिन मृग-मरीचिका सिद्ध होती है। वह कितनी ही पतवार चलाये, उसकी नाव अतृप्ति के तट को छोड़ती ही नहीं है। वह रिक्त और अपूर्ण ही जीवन को खो देता है। वासना स्वरूपतः दुष्पूर है। जीवन चूक जाता है- वह जीवन जिसमें दूसरा किनारा पाया जा सकता था, वह जीवन जिसमें यात्रा पूरी हो सकती थी, व्यर्थ हो जाता है और पाया जाता है कि नाव वहीं की वहीं खड़ी है।

प्रत्येक नाविक जानता है कि नाव को सागर में छोड़ने के पहले तट से खोलना होता है। प्रत्येक मनुष्य को भी जानना चाहिए कि आनंद के, पूर्णता के, प्रकाश के सागर में नाव छोड़ने के पूर्व तट से वासना की जंजीरें अलग कर लेनी होती हैं। इसके बाद तो फिर शायद पतवार भी नहीं चलानी पड़ती है! रामकृष्ण ने कहा है, ‘तू नाव तो छोड़, पाल तो खोल, प्रभु की हवाएं प्रतिक्षण तुझे ले जाने को उत्सुक हैं।’

099/ मन आनंदोन्मुखी है

एक साधु कल आये थे। ध्यान की साधना पर उनसे बातें हुई हैं। यह जानकार बहुत आश्चर्य होता है कि मन के स्वरूप के संबंध में कितनी भ्रांत और मिथ्या धारणाएं प्रचलित हैं। उसे शत्रु मानकर साधना प्रारंभ करने से सब साधना गलत हो जाती हैं। न मन शत्रु है, न शरीर शत्रु है। वे तो यंत्र हैं और सहयोगी हैं। चेतना उनका जैसा उपयोग करना चाहे, कर सकती है। प्रारंभ से ही शत्रुता और संघर्ष की वृत्ति- दमन करती है। और परिणाम स्वरूप सारा जीवन विषाक्त हो जाता है।
मनुष्य का मन स्वभावतः आनंदोन्मुख है। इससे कुछ बुरा भी नहीं है। यह
तो उसका स्वरूप के प्रति आकर्षण है। यह न हो, तो व्यक्ति कभी आत्मिक जीवन की ओर नहीं जा सकता। यह मन आनंद की खोज संसार में करता है और फिर जब उसे वहां नहीं पाता है, तो भीतर की ओर मुड़ता है।
आनंद केंद्र है- संसार का भी, मोक्ष का भी। उसकी धुरी पर ही सारा लौकिक-पारलौकिक जीवन घूमता है।
इस आनंद की झलक बाहर दिखती है, इससे बाहर दौड़ होती है। ध्यान से इस आनंद का वास्तविक स्त्रोत दिखने लगता है, इससे दिशा वहां मुड़ जाती है। मन को जबरदस्ती भीतर नहीं मोड़ना है। इस दमन से ही वह शत्रु मालूम होने लगता है। आनंद का नया आयाम खोलना है। इस आयाम के खुलते ही मन अपने आप भीतर जाता पाया जाता है। वह तो आनंदोन्मुख है। जहां आनंद है, वहां उसकी सहज गति है। आनंद जीवन का लक्ष्य है। आनंद- अखंड आनंद, जीवन का उद्देश्य है। संसार में उसकी झलक है- प्रतिफलन है। मोक्ष में उसका मूलस्त्रोत है। बाहर उसका प्रक्षेप है, भीतर उसका मूल है। परिधि पर छाया है, केंद्र उसके प्राण हैं। इससे संसार- मोक्ष का विरोधी नहीं है। बाहर- भीतर का शत्रु नहीं है। समस्त सत्ता एक संगीत है। इस सत्य के दर्शन होते ही व्यक्ति बंधन के बाहर हो जाता है।

100/ धारणामुक्त ईश्वर

सुबह ही सुबह एक युवक आ गये हैं। उदास दिखते हैं और लगता है कि जैसे भीतर किसी एकाकीपन ने घेर लिया है। कुछ जैसे खो गया है और आंखे उसे खोजती मालूम होती हैं। मेरे पास वे कोई वर्ष भर से आ रहे हैं और ऐसे भी एक दिन आयेंगे यह भी भलीभांति जानता था। इसके पूर्व उनमें काल्पनिक आनंद था, वह धीरे-धीरे विलीन हो गया है।
कुछ देर सन्नाटा सरकता रहा है। उन्होंने आंखें बंद कर ली हैं और कुछ सोचते से मालूम होते हैं। फिर प्रकटतः बोले, ‘मैं अपनी आस्था खो चुका हूं; मैं एक स्वप्न में था, वह जैसे खंडित हो गया है। ईश्वर साथ मालूम होता था, अब अकेला रह गया हूं, पर वह भी अब संभव नहीं दिखता है। वह सेतु खंडहर हो गया है’।
मैं कहता हूंः जो नहीं था, केवल वही छीना जा सकता है। जो है उसका छीनना संभव नहीं है। स्वप्न और कल्पना के साथी से एकाकीपन मिटता नहीं है, केवल

मूर्च्छा में दब जाता है। ईश्वर की कल्पना और मानसिक प्रक्षेप से मिला आनंद वास्तविक नहीं है। वह सहारा नहीं भ्रांति है। और भं्रातियों से जितनी जल्दी छुटकारा हो, उतना ही अच्छा। ईश्वर को वस्तुतः पाने के लिए समस्त मानसिक धारणाओं को त्यागना पड़ता है। और उन धारणाओं में ईश्वर की धारणा भी अपवाद नहीं है। वह भी छोडनी पड़ती है। यही त्याग है और यही तप है। क्योंकि सपनों को छोड़ने से अधिक कष्ट और किसी बात में नहीं है।
कल्पना, स्वप्न और धारणाओं के विसर्जन पर, ‘जो है’, वह अभिव्यक्त होता है। निद्रा टूटती है और जागरण आता है। फिर जो पाना है, वही वास्तविक पाना है, क्योंकि उसे कोई छीन नहीं सकता है। वह किसी और अनुभूति से खंडित नहीं होता है, क्योंकि वह परानुभूति नहीं, स्वानुभूति है। वह किसी दृश्य का दर्शन नहीं, स्वयं शुद्ध द्रष्टा का बोध है। वह ईश्वर का विचार नहीं, स्वयं ईश्वर में होना है। ईश्वर की काल्पनिक धारणा और आस्था खो गयी है, तो घबराओ मत। यह शुभ ही है।
सब धारणएं खो दो और फिर देखो। तब जो दिखाई पड़ता है, वही ईश्वर है।

101/ अज्ञात और अदृश्य जड़ें

एक मित्र कुछ कागज के फूल भेंट कर गये हैं। उन फूलों को देखता हूं- जो दिख रहा है, उसके पार उनमें कुछ भी नहीं है। उनमें सब-कुछ दृश्य है, अदृश्य कुछ भी नहीं। और बाहर क्यारियों में गुलाब खिले हैं, उनमें जो दिख रहा है, उसके पार कुछ अनदिखा भी है और वह अदृश्य ही उनका प्राण है।
आधूनिक सभ्यता कागज के फूलों की सभ्यता है। दिखने पर, दृश्य पर वह समाप्त है और इसलिए निष्प्राण भी है। अदृश्य से, अज्ञात से नाता टूट गया है। और इसलिए मनुष्य जितना आज जड़ों से अलग हो गया है, उतना असके पूर्व कभी नहीं हुआ था।
वृक्ष, फूल, फल, पत्ते- सब दृश्य हैं, पर जडें़ भूमि में होती हैं- जडें़ अज्ञात और अदृश्य में होती हैं। और जो जडें़ देखी जा सकती हैं, सब जड़ें उन पर ही समाप्त नहीं हो जाती हैं- और भी जड़ें हैं, जो देखी नहीं जा सकती।
प्राण जहां से महाप्राण से संयुक्त हैं, वह केंद्र अज्ञात ही नहीं, अज्ञेय भी है। इस अज्ञेय से संयुक्त मनुष्य वास्तविक जड़ों को पा जाता है। इस अज्ञेय को विचार से नहीं पाया सकता है। विचार की सीमा ज्ञेय पर समाप्त है।
विचार स्वयं ज्ञेय और दृश्य है। और जो दृश्य है, वह अदृश्य को जानने
का माध्यम नहीं बन सकता है। सत्ता विचार के पार है। अस्तित्व विचार के अतीत है।
अस्तित्व को इसलिए जाना नहीं जाता है, हुआ जाता है। उससे, पृथक, दर्शक होकर परिचित होना नहीं होता, वरन उसमें एक होकर होना होता है।
विचार छोड़कर, शांत, शून्य होकर, वह अद्वैत आता है, जो सत्य में, सत्ता में खड़ा कर देता है। कागज के फूल देखने हों, तो दूर से देखे जा सकते हैं। उनका द्रष्टा हुआ जा सकता है। पर, असली फूल देखने हों, तो फूल बन जाना जरुरी है।

102/ प्रौढ़ता क्या है?

एक लड़की रो रही है। उसकी गुड़िया टूट गयी है। और अब मैं सोचता हूं कि सब रोना क्या गुड़ियों के टूट जाने के लिए ही रोना नहीं है!
कल संध्या एक वृद्ध आये थे। उन्होंने जीवन में जो चाहा था, वह नहीं हो सका। वे उदास थे और संतापग्रस्त थे। एक महिला आज मिली थीं और बातें करते- करते आंसू पोंछ लेती थी। उन्होंने स्वप्न देखे थे और वो सत्य नहीं हुए

हैं। और अब यह लड़की रो रही है। और क्या इस लड़की की आंखों में सब आंसुओं की बुनियादी झलक नहीं है! और उसके सामने टूटी पड़ी गुड़िया में क्या सब आसुओं का मूल कारण साकार नहीं हुआ है? उसे कोई समझा रहा है कि आखिर गुड़िया ही तो है, उसके लिए रोना क्या है! यह सुन मुझे हंसी आ गयी है। काश, मनुष्य इतना ही जान ले तो क्या समस्त दुख समाप्त नहीं हो जाते?
गुड़िया- बस, गुड़िया है, यह जानना कितना कठिन है!
मनुष्य मुश्किल से इतना प्रौढ़ हो पाता है कि यह जान सके। शरीर का प्रौढ़ होना एक बात है, मनुष्य का प्रौढ़ होना बिल्कुल दूसरी बात है। प्रौढ़ता क्या है? मनुष्य की प्रौढ़ता मन से मुक्त होना है। मन जब तक है, तब तक गुड़ियों को बनाता रहता है। मन से मुक्त होते ही गुड़ियों से मुक्ति होती है।

103/ तथाकथित साधना

‘मैं साधक हूं। आध्यात्मिक साधना में लगा हूं। क्रमशः गति होती जा रही है, एक दिन प्राप्ति भी हो जाने को है’।
एक साधु ने एक दिन मुझसे यह कहा था। उनके शब्दों में मुझे साधना नहीं, वासना ही लगी थी। ऐसी साधना भी बाधा है। जो है, उसे पाने का अभ्यास क्या करना है! उसे पाना भी तो नहीं, यही जानना है कि वह खोया ही नहीं गया है। और तथाकथित साधना का उपक्रम इस सत्य को छिपा देता है। उसके मूल में भी वासना है और कुछ पाने और कुछ बदलने की आकांक्षा है। मैं जो हूं, उसे बदलना है। ‘अ’ को ‘ब’ बनाना है। समस्त वासना के मूल में यही द्वंद्व होता है, यही द्वैत होता है। यह द्वैत ही जगत है और दुख है।

मैं कहता हूं, ‘आप जो हो, उससे जरा भी कुछ और होने ही आकांक्षा यदि है,
तो आप ‘जो है’ उसके विपरित जा रहे हो’। और ‘जो है’- वही मार्ग है। ‘जो है’-उसके प्रति जागते ही जीवन एक सहजता और सौंदर्य से भर जाता है। एक स्वतंत्रता और मुक्ति श्वास-श्वास में भर जाती है। यह सौंदर्य तथाकथित अभ्यासी को कभी उपलब्ध नहीं होता है। उसमें एक हिंसा, एक दमन और कुछ ‘होने’ की वासना के लक्षण सहजता नष्ट कर देते हैं। इसलिए एक कुरुपता समस्त तथाकथित साधुओं में होती है।
फिर क्या करें? कुछ भी नहीं। न करना, कुछ भी न करना ध्यान है। कर्म में स्व नहीं है, विचार में स्व नहीं है। कर्म और विचार के बाहर होते ही वह आविष्कृत हो जाता है। सब छोड़ दो, सब मिट जाने दो, सब विलीन हो जाने दो। और फिर इस ‘न कुछ’ में, इस शून्य में जो दिखता है, वही सब-कुछ है।

104/ ‘फिर मुक्ति क्यों खोजते हो?’

एक प्रबोध कथा है। एक युवक ने किसी साधु से पूछा था, ‘मोक्ष की विधि क्या है?’ उस साधु ने कहा, ‘तुम्हे बांधा किसने है? वह युवक एक क्षण रुका फिर बोला, ‘बांधा किसी ने भी नहीं है!’
तब उस साधु ने पूछा, ‘फिर मुक्ति क्यों खोजते हो?’ यही कल मैने भी एक व्यक्ति से पूछा है। यही प्रत्येक को अपने से पूछना है।
बंधन है कहां? जो है उसके प्रति जागो। जो है, उसे बदलने की फिक्र छोड़ो। आदर्श के पीछे मत दौड़ो। जो भविष्य में है, वह नहीं; जो वर्तमान है, वही तुम हो। और वर्तमान में कोई बंधन नहीं है। वर्तमान के प्रति जागते ही बंधन नहीं पाये जाते हैं।
आकांक्षा- कुछ होने की और कुछ पाने की आकांक्षा ही बंधन है। आकांक्षा सदा भविष्य में है, आकांक्षा सदा कल है; वही बंधन है, वही तनाव है, वही दौड़ है, वही संसार है। यह आकांक्षा ही मोक्ष का निर्माण करती है। मोक्ष पाने

के मूल में वही है। और बंधन मूल में है, तो परिणाम में मोक्ष कैसे हो सकता है?
मोक्ष की शुरुआत मुक्त होने से करनी होती है। वह अंत ही नहीं, वही प्रारंभ भी है।
मोक्ष पाना नहीं है, वरन दर्शन करना है कि मैं मोक्ष में ही खड़ा हूं।
मैं मुक्त हूं, यह बोध शांत जाग्रत चेतना में सहज ही उपलब्ध हो जाता है।
प्रत्येक मुक्त है- केवल इस सत्य के प्रति जागना मात्र है।
मैं जैसे ही दौड़ छोड़ता हूं- कुछ होने की दौड़ जैसे ही जाती है कि मैं हो आता हूं और ‘हो आना’- पूरे अर्थां में हो आना ही मुक्ति है।
तथाकथित धार्मिक इस ‘हो आने’ को नहीं पाता है, क्योंकि वह दौड़ में है- मोक्ष पाने की, आत्मा को पाने की, ईश्वर को पाने की। और जो दौड़ में है, चाहे उस दौड़ का रूप कुछ भी क्यों न हो, वह अपने में नहीं है। धार्मिक होना आस्था की बात नहीं, किसी प्रयास की बात नहीं, किसी क्रिया की बात नहीं, धार्मिक होना तो अपने में होने की बात है। और यह मुक्ति एक क्षण मात्र में आ सकती है। इस सत्य के प्रति सजग होते ही, जागते ही कि बंधन दौड़ में है, आकांक्षा में है, आदर्श में है, अंधेरा गिर जाता है। और जो दिखता है, उसमें बंधन पाये ही नहीं जाते हैं।
सत्य एक क्षण में ही क्रांति कर देता है।

105/ सत्य अखंड है

सूरज निकलता है। सर्दियों की सुबह है। रात हवाएं ठंडी थीं। और सुबह दूब पर ओसकण भी फैले थे। अब तो किरणें उन्हें पी गयी हैं और धूप भी गरमा गयी है।
एक सुखद सुबह, दिन का प्रारंभ कर रही है। पक्षियों के अर्थहीन गीत भी कितने अर्थपूर्ण मालूम होते हैं- पर शायद जीवन में कोई अर्थ नहीं है। और अर्थ की कल्पना मनुष्य की अपनी है। अर्थ नहीं- शायद इससे ही जीवन में अनंत गहराई और विस्तार है। अर्थ तो सीमा है। जीवन-अस्तित्व है असीम, इससे अर्थ वहां कोई भी नहीं है। और जो अपने को इस असीम में असीम कर लेता है, इस विराट अर्थ-शून्यता में अर्थ-शून्य हो जाता है, वह उसे पा लेता है ‘जो है’- वह उस अस्तित्व को पा लेता है। सब अर्थ क्षुद्र है और क्षुद्र का है। सब अर्थ अहं के बिंदु से देखा गया है। अहं ही अर्थ का केंद्र है। उससे जो जगत देखा जाता है, वह वास्तविक जगत नहीं है। जो भी ‘मैं’ से संबंधित है, वह वास्तविक नहीं है।
सत्य अखंड इकाई है, वह ‘मैं’ और ‘न मैं’ में विभाजित नहीं है। सब अर्थ ‘मैं’ का है। इससे जो अखंड है, ‘मैं’ और ‘न मैं’ के अतीत है, वह अर्थ-शून्य है। उसमें न अर्थ है, न ‘अर्थ-नहीं’ है। उसे कोई भी नाम देना गलत है। उसे ईश्वर कहना भी गलत है। ईश्वर भी ‘मैं’ के ही प्रसंग में है। वह भी ‘मैं’ की ही धारणा है। कहें कि जो भी सार्थक है, वह व्यर्थ है। सार्थकता की सीमा के बाहर हो जाना- आध्यात्मिक हो जाना है।
बोधिधर्म से किसी ने पूछा था, ‘पवित्र निर्वाण के संबंध में कुछ कहें’। वे बोले थे, ‘पवित्रता कुछ भी नहीं, बस शून्यता और केवल शून्यता’।

106/ योग है आत्मस्मरण

एक मुर्गा बोल रहा है-सुनता हूं।
एक गाड़ी मार्ग से जा रही है-देखता हूं।

सुनना है, देखना है और बीच में कोई शब्द नहीं है। शब्द सत्ता से तोड़ देता है। शब्द सत्य के संबंध में है, सत्य नहीं है। सत्य तक शब्द से नहीं, शब्द खोकर पहुंचना होता है।
और, शब्द खोना समाधि है। लेकिन केवल शब्द खोना मात्र समाधि नहीं है। शब्द तो मूर्च्छा में भी खो जाते हैं। शब्द खोकर भी जाग्रत, चेतन और प्रबुद्ध बने रहना समाधि है।
यह एक साधु से कह रहा हूं। वे तल्लीनता और मूर्च्छा को समाधि मानते रहे हैं। यह भ्रम बहुतों को रहा है। यह भ्रम बहुत घातक है। इस भ्रम से ही पूजा और भक्ति और मूर्च्छित होने के बहुत-से उपाय प्रचलित हुए हैं। वे सब उपाय पलायन हैं और उनका उपयोग मादक द्रव्यों से भिन्न नहीं है। उनमें व्यक्ति अपने को भूल जाता है। इस भूलने से, इस आत्म-विस्मरण से आनंद का आभास पैदा होता है। पर योग आत्म-विस्मरण नहीं पूर्ण आत्म-स्मरण चाहता है। मैं जब परिपूर्ण रूप से जागता हूं, तब मैं परिपूर्ण रूप से हो पाता हूं। यह जागना- शब्द से, विचार से, मन से मुक्त होने से होता है। इस शब्द-शून्य चेतना में, ‘मैं’ मिट जाता है। पर मैं नहीं मिटता हूं, वरन ‘मैं’ के मिट जाने पर, अहं-बोध के मिट जाने पर, मैं परिपूर्ण हो जाता हूं।

107/ कौन हो तुम?

अमावस उतर रही है। पक्षी नीड़ों पर लौट आये हैं और घिरते अंधेरे में वृक्षों पर रात्रि-विश्राम के पूर्व की चहल-पहल है। नगर में दीप जलने लगे हैं। थोड़ी ही देर बाद आकाश में तारे और नीचे दीप ही दीप हो जाने को है। पूर्वीय आकाश में दो काली बदलियां तैर रही हैं। कोई साथी नहीं है- एकदम अकेला हूं। कोई विचार नहीं, बस बैठा हूं। और बैठना कितना आनंदप्रद है। आकाश और आकाश-गंगा अपने में समा गयी मालूम होती है।
विचार नहीं होते हैं तो व्यक्ति-सत्ता, विश्व-सत्ता से मिल जाती है।
एक छोटा-सा ही पर्दा है, अन्यथा प्रत्येक प्रभु है। आंख पर तिनका है और तिनके ने प्रभु को छिपा लिया है। यह छोटा-सा ही तिनका संसार बन गया है। इस छोटे-से तिनके के हटते ही अनंत आनंद-राज्य के द्वार खुल जाते हैं।
जीसस क्राईस्ट ने कहा है, ‘जरा-सा खटखटाओ और द्वार खुल जाते हैं’। मैं
तो कहता हूं, ‘जरा-सा झांको भर, द्वार खुले ही हैं’। एक व्यक्ति सूर्यास्त की दिशा में भागा जा रहा था। उसने किसी से पूछा, ‘पूर्व कहां है?’ उत्तर मिला, ‘पीठ भर फेर लो, पूर्व तो आंख के सामने ही मिल जायेगा’। सब उपस्थित है। ठीक दिशा में आंख भर फेरने की आवश्यकता है।
यह बात सारे जगत में कह देनी है। इसे ठीक से सुन भी लेना, बहुत-कुछ पा लेना है। स्व-दिव्यता की आस्था आधी उपलब्धि है।
मैंने आज ही मिलने आये एक मित्र से कहा हैः संपत्ति पास है, केवल स्मरण नहीं रहा है। सम्यक स्मृति जगाओ- अपनी दिव्यता को स्मरण करो- कौन हो तुम? अपने को पूछो- पूछो- और इतना पूछो कि समस्त मन-प्राण पर वह अकेला स्वर ही गूंजता रह जाये। फिर अचेतन में उसका तीर उतर जाता है और वह अलौकिक उत्तर अपने आप सामने आ खड़ा होता है, जिसे जान लेना, सब-कुछ जान लेना है।

108/ स्वयं के शून्य से भागना अज्ञान है

रात्रि अभी गयी नहीं है और विदा होते तारों से आकाश भरा है। नदी एक पतली चांदी की धार जैसी मालूम होती है। रेत, रात गिरी ओस से, ठंडी हो गयी है और हवाओं में भी बहुत ठंडक है।
एक गहरा सन्नाटा है और बीच-बीच में पक्षियों की आवाज उसे और गहरा बना देती है।

एक मित्र को साथ ले कुछ जल्दी ही इस एकांत में चला आया हूं। वे मित्र
कह रहें हैं कि एकांत में भय मालूम होता है और सन्नाटा काटता-सा लगता है। किसी भांति अपने को भरे रहें तो ठीक, अन्यथा न मालूम कैसा संताप और उदासी घेर लेती है।
यह संताप प्रत्येक को घेरता है। कोई भी अपना साक्षात नहीं करना चाहता है। स्वयं में झांकने से घबराहट मालूम होती है। और एकांत स्वयं के साथ छोड़ देता है, इसलिए एकांत भयभीत करता है। ‘पर’ में उलझे हों, तो ‘स्व’ भूल जाता है। वह एक तरह की मूर्च्छा है और पलायन है। सारे जीवन मनुष्य इस पलायन में लगा रहता है। पर यह पलायन अस्थायी है और मनुष्य किसी भी भांति अपने आपसे बच नहीं सकता। बचाव के लिए की गयीं उसकी सब चेष्टाएं व्यर्थ हो जाती हैं। क्योंकि वह जिससे बचना चाह रहा है, वह स्वयं तो वही है। अपने से कैसे बचा जा सकता है और अपने से कैसे भागा जा सकता है!
हम सबसे भाग सकते हैं, पर स्वयं से नहीं भाग सकते हैं। जीवन भर भागकर
हम अंत में पायेंगे कि कहीं भी नहीं पहुंचे हैं। इसलिए जो विवेकशील हैं, वे स्वयं से भागते नहीं, स्वयं का साक्षात करते हैं।
मनुष्य भीतर झांके तो शून्य का अनुभव होता है। वहां अनंत शून्य है। इसलिए घबड़ाकर वह बाहर भागता है। उस शून्य को भरने का वह अनंत प्रयास करता है। संसार में और संबंधों में उस शून्य को भरना चाहता है। पर वह शून्य किसी भी तरह भरा नहीं जा सकता है। उसे भरना असंभव है और यही उसका संताप और असफलता है।
मृत्यु इस संताप को उघाड़कर उसके सामने कर देती है। मृत्यु उसे इसी शून्य में डाल देती है, जिससे वह जीवन भर बचता था और इसलिए मृत्यु का भय सर्वोपरि है।
मैं कहता हूं, स्वयं के शून्य से भागना अज्ञान है। उसके साक्षात से, उसमें प्रवेश से जीवन का समाधान उपलब्ध होता है। धर्म शून्य में प्रवेश है। मनुष्य नितांत एकांत में अपने साथ जो करता है, वही धर्म है।

109/ ‘जीवन का आदर्श क्या है?’

‘जीवन का आदर्श क्या है?’- एक युवक ने पूछा है।
रात्रि घनी हो गयी है और आकाश तारों से भरा है। हवाओं में आज सर्दी है
और शायद कोई कहता था कि कहीं ओले पड़े हैं। राह निर्जन है और वृक्षों के तले घना अंधेरा है।
और इस शांत शून्य-घिरी रात्रि में जीना कितना आनंदमय है! होना मात्र
ही कैसा आनंद है! पर हम होना ही भूल गये हैं! जीवन कितना आनंद है, पर हम मात्र जीना नहीं चाहते हैं। हम तो किसी आदर्श के लिए जीना चाहते हैं। जीवन को साधन बनाना चाहते हैं, जो कि स्वयं साध्य है। यह आदर्श ही दौड़ सब विषाक्त कर देती है। यह आदर्श का तनाव सब संगीत तोड़ देता है।
अकबर ने एक बार तानसेन से पूछा था, ‘तुम अपने गुरु जैसा क्यों नहीं गा पाते हो- उनमें कुछ अलौकिक दिव्यता है।’ उत्तर में तानसेन ने कहा था, ‘वे केवल गाते हैं- गाने के लिए गाते हैं। और मैं- मेरे गाने में उद्देश्य है’। किसी क्षण केवल जीकर देखो। केवल जीओ- जीवन से लड़ो मत, छीना-झपटी न करो। चुप होकर देखो, क्या होता है, उसे होने दो। ‘जो है’, उसे होने दो। अपनी तरफ से सब तनाव छोड़ दो और जीवन को बहने दो। जीवन को घटित होने दो। और जो घटित होगा-
मैं विश्वास दिलाता हूं- वह मुक्त कर देता है।
आदर्श का भ्रम सदियों पाले गये अंधविश्वासों में से एक है। जीवन किसी
और के लिए, कुछ और के लिए नहीं, बस जीने के लिए है। जो ‘किसी लिए’ जीता है, वह जीता ही नहीं है। जो केवल जीता है, वही जीता है। और वही उसे पा लेता है, जो कि पाने जैसा है। वही आदर्श को भी पा लेता है।
उस युवक की ओर देखता हूं। उसके चहरे पर एक अदभुत शांति फैल गयी है। वह कुछ बोलता नहीं है, पर सब बोल देता है। कोई एक घंटा मौन और शांत बैठकर वह

गया है। वह बदलकर गया है। जाते समय उसने कहा है, ‘मैं दूसरा व्यक्ति होकर जा रहा हूं’।

110/ बाधाएं कोई हैं, तो स्वयं में हैं

सुबह हो गयी है। सूरज बदलियों में है और धीमी फुहार पड़ रही है। वर्षा
ने सब गीला-गीला कर दिया है।
एक साधु पानी में भीगते हुए मिलने आये हैं। कोई पंद्रह-बीस वर्ष हुए,
तब उन्होंने आत्म-उपलब्धि के लिए गृह-त्याग किया था। त्याग तो हुआ, पर उपलब्धि नहीं हुई। इससे दुखी हैं। समाज और संबंध आत्म-लाभ में बाधा समझे जाते हैं। ऐसी मान्यता ने व्यर्थ में अनेकों को जीवन से तोड़ दिया है।
एक कहानी उनसे मैंने कही। एक पागल स्त्री थी। उसे पूर्ण विश्वास था
कि उसका शरीर स्थूल, भौतिक नहीं है। वह अपने शरीर को दिव्य-काया मानती थी। कहती थी कि उसकी काया से और सुंदर काया पृथ्वी पर दूसरी नहीं है। एक दिन उस स्त्री को एक बड़े आदमकद आईने के सामने लाया गया। उसने अपने शरीर को उस दर्पण में देखा और देखते ही उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने पास रखी कुर्सी उठाकर दर्पण पर फेंकी। दर्पण टुकड़े-टुकड़े हो गया, तो उसने सुख की सांस ली। दर्पण फोड़ने का कारण पूछो तो बोला थी कि ‘वह मेरे शरीर को भौतिक किये दे रहा था। मेरे सौंदर्य को वह विकृत कर रहा था’।

समाज और संबंध दर्पण से ज्यादा नहीं हैं। जो हममें होता है, वे केवल उसे ही प्रतिबिंबित कर देते हैं। दर्पण तोड़ना जैसे व्यर्थ है। दर्पण को नहीं अपने को बदलना है। जो जहां है, वहीं यह बदलाहट हो सकती है। यह क्रांति केंद्र से शुरु होती है। परिधि पर काम करना व्यर्थ ही समय खोना है।
स्व पर सीधे ही काम शुरु कर देना है। समाज और संबंध कहीं भी बाधा नहीं हैं। बाधाएं कोई हैं, तो स्वयं में हैं।

111/ समाधि सत्य का द्वार है

‘ईश्वर है?’- हमें ज्ञात नहीं।
‘आत्मा है?’- हमें ज्ञात नहीं।
‘मृत्यु के बाद जीवन है?’- हमें ज्ञात नहीं।
‘जीवन में कोई अर्थ है?’- हमें ज्ञात नहीं।
‘हमें ज्ञात नहीं’ यह आज का पूरा जीवन-दर्शन है। इन तीन शब्दों में हमारा पूरा ज्ञान समा जाता है। ‘पर’ के संबंध में, पदार्थ के संबंध में जानने की हमारी दौड़ का अंत नहीं है। पर ‘स्व’ के, चैतन्य के संबंध में हम प्रतिदिन अंधेरे में डूबते जाते हैं।
बाहर प्रकाश मालूम होता है, भीतर घुप्प अंधेरा है। परिधि पर ज्ञान है, केंद्र पर अज्ञान है।
और आश्चर्य यह है कि केंद्र को प्रकाशित करने का प्रयास भी नहीं करना है। वहां आंख भर पहुंच जाये और सब प्रकाशित हो जाता है।
‘पर’ आंख न हो तो, तो वह ‘स्व’ पर खुल जाती है।
बाहर उसे आधार न हो, तो वह स्व पर आधार खोज लेती है।
स्वाधार चैतन्य ही समाधि है।
समाधि सत्य का द्वार है। उसमें यह नहीं कि सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, वरन सब प्रश्न ही गिर जाते हैं। प्रश्नों का गिर जाना ही असली उत्तर है। जहां प्रश्न नहीं, और केवल चैतन्य है- शुद्ध चैतन्य है, वहीं उत्तर है, वहीं ज्ञान है।
इस ज्ञान को पाये बिना जीवन निरर्थक है।

112/ शरीर-मन एक सराय है

‘एक सराय में एक रात एक यात्री ठहरा था। वह जब पहुंचा तो कुछ यात्री विदा हो रहे थे। सुबह जब वह विदा हो रहा था तो और यात्री आ रहे थे। सराय में अतिथि आते और चले जाते, लेकिन आतिथेय वहीं का वहीं था’। एक साधु यह कहकर पूछता था कि क्या यही घटना मनुष्य के साथ प्रतिक्षण नहीं घट रही है?
मैं भी यही पूछता हूं और कहता हूं कि जीवन में अतिथि और आतिथेय को पहचान लेने से बड़ी और कोई बात नहीं है। शरीर-मन एक सराय है। उसमें विचार के, वासनाओं के, विकारों के अतिथि आते हैं। पर इन अतिथियों से पृथक भी वहां कुछ है। आतिथेय भी है। वह आतिथेय कौन है?
यह ‘कौन’ कैसे जाना जाये? बुद्ध ने कहा है, ‘रुक जाओ’। और यह रुक जाना ही उसका जानना है। बुद्ध का पूरा वचन है, ‘यह पागल मन रुकता नहीं, यदि यह रुक जाये तो वही बोधि है, वही निर्वाण है।’ मन के रुकते ही आतिथेय प्रकट हो जाता है। यह शुद्ध, नित्य, बुद्ध, चैतन्य है। जो न कभी जन्मा, न मरा। न जो बद्ध है, न मुक्त होता है। जो केवल ‘है’, और जिसका होना परम आनंद है।

113/ जीवन क्या है?

जीवन- जिसे हम जीवन समझते हैं, वह क्या है? रात्रि कोई पूछता था। मैंने उसे एक कहानी कहीः
एक विश्रामालय में दो व्यक्ति आराम-कुर्सियों पर बैठे हुए थे। एक युवा था, एक वृद्ध। जो वृद्ध था, वह आंखें बंद किये था, पर बीच-बीच में मुस्कुरा उठता था। और कभी-कभी हाथ से और चहरे से ऐसे इशारे करता था, जैसे कुछ दूर हटा रहा हो। युवक से बिना पूछे न रहा गया। वृद्ध ने एक बार आंखें खोलीं तो उसने पूछ ही लिया, ‘इस अत्यंत कुरूप विश्रामगृह में ऐसा क्या है, जो आप में मुस्कुराहट ला देता है?’ वृद्ध बोला, ‘मैं अपने से कुछ कहानियां कह रहा हूं, उनमें ही हंसी आ जाती है’। उस युवक ने पूछा, ‘और, बार-बार हाथ से हटाते क्या हैं?’ वृद्ध हंसने लगा और बोला, ‘उन कहानियों को जिन्हें बहुत बार सुन चुका हूं’। उस युवक ने कहा, ‘आप भी क्या कहानियों से मन समझा रहे हैं’। उत्तर में वृद्ध ने कहा था, ‘बेटे, एक दिन समझोगे कि पूरा ही जीवन कहानियों से अपने को समझा लेने का नाम है’।
निश्चित ही जीवन जैसा मिलता है, वह कहानी ही है। और कहानियों से अपने
को समझा लेने का ही नाम जीवन है।
जिसे हम जीवन समझते हैं, वह जीवन नहीं, केवल एक सपना है। नींद टूटने पर ज्ञात होता है कि हाथ में कुछ भी नहीं है- जो था, वह था नहीं, बस केवल दिखता था।
पर, इस स्वप्न-जीवन से सत्य-जीवन में जगा जा सकता है। निद्रा छोड़ी जा सकती है। जो सो रहा है, वह जाग भी सकता है। उसके सो सकने की संभावना ही, उसके जागने की भी संभावना है।

114/ ‘अहं ब्रह्मास्मि-मैं ही ब्रह्म हूं’

रात्रि आधी होने को है। आकाश आज बहुत दिनों बाद खुला है। सब नहाया- नहाया मालूम होता है और आधा चांद पश्चिम क्षितिज में डूबा जा रहा है।
आज संध्या कारागार में बोला हूं। बहुत कैदी थे। उनसे बातें करते-करते
वे कैसे सरल हो जाते हैं! उनकी आंखों में कैसी पवित्रता झलकने लगती है- उसका स्मरण आ रहा है।

मैंने वहां कहा हैः प्रभु की दृष्टि में कोई पापी नहीं है, प्रकाश की दृष्टि में जैसे अंधेरा नहीं है। इसलिए मैं तुमसे छोड़ने को नहीं कहता हूं। मैं मिट्ी छोड़ने को नहीं कहता हूं, मैं तो हीरे पाने को कहता हूं। हीरे पा लो, मिट्ी तो अपने आप छूट जाती है। जो तुमसे छोड़ने को कहते हैं, वे नासमझ हैं। जगत को केवल पाया जाता है। एक नयी सीढ़ी पाते हैं, तो पिछली सीढ़ी अपने आप छूट जाती है। छोड़ना नकारात्मक है। उसमें पीड़ा है, दुख है, दमन है। पाना सत्तात्मक है। उसमें आनंद है। क्रिया में छोड़ना पहले दिखता है, पर वस्तुतः पाना पहले है। पहले पहली सीढ़ी ही छूटती है, पर उसके पूर्व दूसरी सीढ़ी पा ली गयी होती है। उसे पाकर ही- उसे पाया जानकर ही- पहली सीढ़ी छूटती है। इससे प्रभु को पाओ, तो जो पाप जैसा दिखता है, वह अनायास चला जाता है। सच ही, उस एक के पाने में सब पा लिया जाता है। उस सत्य के आते ही स्वप्न अपने से ही विलीन हो जाते हैं। स्वप्नों को छोड़ना नहीं है, जानना है। जो स्वप्नों को छोड़ने में लगता है, वह उन्हें मान लेता है। हम स्वप्नों को मानते ही नहीं हैं। इससे ही हम कह सकते हैंः ‘अहं ब्रह्मास्मि- मैं ही ब्रह्म हूं’। यह जिनका उदघोष है, उनके लिए अंधेरे की कोई सत्ता नहीं है। मित्र, इसे जानो। प्रकाश को अपने भीतर जगाओ और पुकारो। प्रभु को अपने भीतर अनुभव करो। अपने सत्य के प्रति जागो और फिर पाया जाता है कि अंधेरा तो कहीं है ही नहीं। अंधेरा हमारी मूर्च्छा है और जागरण प्रकाश बन जाता है।
यह उन कैदियों से कहा था और फिर लगा कि यह तो सबसे ही कहना है, क्योंकि ऐसा कौन है, जो कैदी नहीं है!

115/ विवाद या संवाद

एक चर्चा में आज उपस्थित था। उपस्थित था जरुर, पर मेरी उपस्थिति न के
ही बराबर थी। भागीदार मैं नहीं था। केवल श्रोता था। जो सुना, वह तो साधारण था; पर जो देखा, वह निश्चय ही असाधारण रहा।
प्रत्येक विचार पर वहां वाद-विवाद हो रहा था। सब सुना, पर दिखाई कुछ
और ही दिया। दिखा कि विवाद विचारों पर नहीं, ‘मैं’ पर है। कोई कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता है। सब ‘मैं’ को- अपने-अपने ‘मैं’ को सिद्ध करना चाहते हैं। विवाद की मूल जड़ इस ‘मैं’ में है। फिर प्रत्यक्ष में केंद्र कहीं दिखे, अप्रत्यक्ष में केंद्र वहीं है। जड़ें सदा ही अप्रत्यक्ष होती हैं। दिखाई वे नहीं देतीं। दिखता है जो, वह मूल नहीं है। फूलों-पत्तों की भांति जो दिखता है, वह गौण है। उस दिखने वाले पर रुक जायें तो समाधान नहीं है, क्योंकि समस्या ही वहां नहीं है।
समस्या जहां है, समाधान भी वहीं है। विवाद कहीं नहीं पहुंचते। कारण,
जो जड़ है, उसका ध्यान ही नहीं आता है।
यह भी दिखाई देता है कि जहां विवाद है, वहां कोई दूसरे से नहीं बोलता है। प्रत्येक अपने से ही बातें करता है। प्रतीत भर होता है कि बातें हो रही हैं। पर जहां ‘मैं’ है, वहीं दीवार है और दूसरे तक पहुंचना कठिन है। ‘मैं’ को साथ लिये संवाद असंभव है।
संसार में अधिक लोग अपने से ही बातें करने में जीवन बिता देते हैं।
एक पागलखाने की घटना पढ़ी थी। दो पागल विचार-विमश में तल्लीन थे, पर उनका डाक्टर एक बात देखकर हैरान हुआ। वे बातें कर रहे थे जरुर और जब एक बोलता था, तो दूसरा चुप रहता था, पर दोनों की बातों में कोई संबंध, कोई संगति नहीं थी। उसने उनसे पूछा कि ‘जब तुम्हें अपनी-अपनी ही कहना है, तो एक-दूसरे के बोलते समय चुप क्यों रहते हो?’ पागलों ने कहा, ‘संवाद का नियम हमें मालूम है- जब एक बोलता है, तब दूसरे को चुप रहना नियमानुसार आवश्यक है’।
यह कहानी बहुत सत्य है और पागलों के ही नहीं, सबके संबंध में सत्य है। बातचीत के नियम का ध्यान रखते हैं, सो ठीक, अन्यथा प्रत्येक अपने से ही बोल रहा है।

'मैं' को छोड़े बिना कोई दूसरे से नहीं बोल सकता। और 'मैं' केवल प्रेम में छूटता है। इसलिए प्रेम में ही केवल संवाद होता है। उसके अतिरिक्त सब विवाद है और विवाद विक्षिप्तता है। क्योंकि उसमें सब अपने द्वारा और अपने से ही कहा जा रहा है।

मैं जब उस चर्चा से आने लगा, तो किसी ने कहा, 'आप कुछ बोले नहीं?'

मैंने कहा, कोई भी नहीं बोला है।'

116/ स्वप्न या द्रष्टा

एक स्वप्न से जागा हूं। जागते ही एक सत्य दिखा है। स्वप्न में मैं भागीदार भी था और द्रष्टा भी। स्वप्न में जब तक था, द्रष्टा भूल गया था, भागीदार ही रह गया था। अब जागकर देखता हूं कि द्रष्टा ही था, भागीदार प्रक्षेप था।

स्वप्न जैसा है, संसार भी वैसा ही है। द्रष्टा, चैतन्य ही सत्य है, शेष सब कल्पित है। जिसे हमने 'मैं' जाना है, वह वास्तविक नहीं है। उसे भी जो जान रहा है, वास्तविक वही है।

यह सबका द्रष्टा तत्व सबसे मुक्त और सबसे अतीत है। उसने ने कभी कुछ किया है, न कभी कुछ हुआ है। वह बस 'है'।

असत्य 'मैं', स्वप्न 'मैं' शांत हो जाये, तो 'जो है', वह प्रकट हो जाता है। इस 'है' को हो जाने देना मोक्ष है, कैवल्य है।

117/ 'मैं' संसार है, 'मैं' का अभाव संन्यास है

एक संन्यासी ने मुझसे कहा है, 'मैं प्रभु के लिए सब छोड़ आया हूं और अब मेरे पास कुछ भी नहीं है'।

मैं देखता हूं कि सच ही उनके पास कुछ नहीं है, पर उनसे कहता हूं कि वह जो छोड़ना था - और वही अकेला था जो कि छोड़ा जा सकता था - वह अब भी उनके पास है!

वे अपने चारों ओर देखते हैं। सच ही उनके पास कुछ नहीं है - जो है, उनके भीतर है। वह उनकी आंखों में है। वह उनके त्याग में है। वह उनके संन्यास में है। वह 'मैं' है। उसे छोड़ना ही अकेला छोड़ना है। क्योंकि शेष सब छीना जा सकता है और अंततः मृत्यु सब छीन ही लेती है। 'मैं' को कोई नहीं छीन सकता है, मृत्यु भी उसे नहीं छीन पाती है। उसे छीना नहीं जा सकता, उसे तो केवल छोड़ा ही जा सकता है। उसका तो केवल त्याग ही हो सकता है। और जो छीना नहीं जा सकता, उसका त्याग ही केवल त्याग है।

इसलिए प्रभु को समर्पित करने योग्य मनुष्य कं पास 'मैं' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शेष जो भी वह छोड़े, वह केवल छोड़ने के भ्रम में है, क्योंकि वह उसका था ही नहीं। और इस सब छोड़ने से उलटे उसका 'मैं' और प्रगाढ़ और घनीभूत हो जाता है। 'मैं' केंद्र से यदि कोई अपना समस्त जीवन भी प्रभु को दे दे, तो भी वह देना नहीं है। 'मैं' को दिये बिना और कुछ भी देना, देना नहीं है।

'मैं' एकमात्र परिग्रह है। 'मैं' एकमात्र संसार है। उसे जो छोड़ता है, वह अपरिग्रही है, वही संन्यासी है।

'मैं' संसार है। 'मैं' का अभाव संन्यास है।

'मैं' का दे देना वास्तविक धार्मिक क्रांति और परिवर्तन है। क्योंकि उसके रिक्त स्थान में ही वह आता है, जो कि मेरा 'मैं' नहीं, वरन सर्व का 'मैं' है।

सिमोन वेल का एक कथन मुझे बहुत प्रिय है जिसमें उसने कहा है कि प्रभु के अतिरिक्त किसी को भी 'मैं' कहने का कोई अधिकार नहीं है।

सच ही 'मैं' कहने का अधिकार केवल उसे ही है, जो कि समस्त सत्ता का केंद्र है। पर उसे 'मैं' कहने का कोई कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसके लिए

सब ‘मैं’ ही है। जिसे अधिकार है, उसे कहने का कारण नहीं है; और जिसे कहने का कारण है, उसे कोई अधिकार नहीं है।
पर मनुष्य अपने अनाधिकार को खोकर, अधिकार को पा सकता है। वह ‘मैं’ होना छोड़कर ‘मैं’ हो सकता है। वह अपने केंद्र के आभास को छोड़कर, सत्य केंद्र को पा सकता है। वह जिस क्षण अपने केंद्र को विकेंद्रित कर देता है, उसी क्षण केंद्र को उपलब्ध हो जाता है।
मनुष्य का ‘मैं’ सत्य नहीं है। वह संघात है। उसकी कोई सत्ता नहीं है।
वह संग्रह है। इस संग्रह से सत्य का जो भ्रम पैदा होता है, वही अज्ञान है। पर जो इस संग्रह में झांकता है, देखता है और सत्य को खोजता है, उसके समक्ष आभास टूट जाता है और ‘मैं’ की माला के फूल बिखर जाते हैं। और तब वह सूत्र उपलब्ध होता है, जो कि सत्य है और जिस पर कि ‘मैं’ के फूल टंगे थे और जिसे कि उन फूलों ने ढांक रखा था।
फूलों के हटने पर- उनके आच्छादान के टूटने पर पाया जाता है कि जो उनका आधार था, वह मेरा ही नहीं है, वह मुझमें और सब में भी है। वह समस्त सत्ता में पिरोया हुआ है।
जो ‘मैं’ की इस मृत्यु से नहीं गुजरता है, वह परमात्मा के जीवन से वंचित रह जाता है। ‘मैं’ की मृत्यु- परमात्मा से, सत्य से, सत्ता से, हमारे भेद और अंतर की मृत्यु है। उसके गिरते ही वह फैसला गिर जाता है, जो कि हमें स्वयं हमसे ही तोड़े हुए था। और वह व्यक्ति धन्यभागी है, जो शरीर की मृत्यु के पूर्व इस मृत्यु को उपलब्ध होता है।

118/ ‘मूर्तियों को नहीं उस मन को फेंको, जो कि मूर्तियों का निर्माता है’

सत्य के लिए जिसकी अभीप्सा है, वह जाने कि उसे सत्य की कोई कल्पना, कोई धारणा स्वीकार नहीं करनी है। उस स्वीकार पर ही साधना का आत्मघात हो जाता है।
सत्य को पाने के लिए चित्त के द्वारा दिये गये सारे प्रलोभनों को छोड़ने का साहस चाहिए। चित्त द्वारा प्रदत्त कोई भी विकल्प स्वीकार नहीं करना है। तभी वह र्निविकल्प अवस्था आती है, जो स्वयं के समक्ष स्वयं के प्रत्यक्ष को देती है। वह अंततः प्रत्यक्ष, शुद्ध ज्ञान की सदघड़ी आ सके, उसके पूर्व बहुत-कुछ आता है जो कि सत्य नहीं है। और उसमें जो उलझता है, वह और कुछ भी जान ले, स्वयं को नहीं जानता है। स्वयं को कभी भी ज्ञेय की भांति नहीं जाना जाता है। इसलिए, जब तक कुछ भी ज्ञेय शेष है, तब तक जानना कि साक्षात ‘पर‘ का है, ‘स्व‘ का नहीं। ज्ञेय अब अशेष है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है, वही स्व है, वही सत्य है।
रिंझाई ने कहा है, ‘समाधि के मार्ग में यदि स्वयं भगवान भी मिलें, तों उन्हें राह से दूर कर देना’।
मैं भी यही कहता हूं। समाधि की राह जब पूर्ण निर्जन है, और ज्ञान की धारा में जब कोई ज्ञेय नहीं है, और दर्शन को, देखने को जब कुछ शेष नहीं है, तभी वह मिलता और जाना जाता है जो कि सत्य है।
एक सद्गुरु ने भी एक दिन यही कहा था। उसके एक शिष्य ने सुना। उसने अपनी कुटिया पर लौट सारी मूर्तियां तोड़ डालीं और सारे ग्रंथ जला डाले। और जाकर अपने गुरु से कहा कि मैं वह सब नष्ट कर आया हूं, जो कि सत्य के आगमन में बाधक है। उसका गुरु उसकी बात सुन बहुत हंसने लगा था और उसने कहा था, ‘पागल, उन ग्रंथों को जला, जो तेरे भीतर हैं; और उन मूर्तियों को तोड़, जो तेरे चित्त की अतिथि बन गयी हैं’।
ऐसा ही आज यहां हुआ है। एक युवक मेरी बातें सुन अपने पूजागृह को उजाड़ मूर्तियों को कुएं में फेंक आये हैं। उनसे मैंने कहा हैः ‘मूर्तियों को नहीं उस मन को फेंको, जो कि मूर्तियों का निर्माता है। और पूजागृहों को उजाड़ने से क्या होगा, जब तक कि यह सर्जक मन जीवित है, जो कि प्रतिक्षण नये पूजागृह बना लेता है?’

119/ धर्म क्या है?

कोई धर्म के संबंध में पूछ रहा था। उससे मैंने कहा हैः
‘धर्म का संबंध इससे नहीं है कि आप उसमें विश्वास करते हैं या नहीं करते। वह आपका विश्वास नहीं, आपका श्वास-प्रश्वास हो, तो ही सार्थक है। वह तो कुछ है- जो आप करते हैं या नहीं करते हैं- जो आप होते हैं, या नहीं होते हैं। धर्म कर्म है, वक्तव्य नहीं’।
और, धर्म कर्म तभी होता है, जब वह आत्मा बन गया हो। जो आप करते हैं, वह
आप पहले हो गये होते हैं। सुवास देने के पहले फूल बन जाना आवश्यक है। फूलों की खेती की भांति आत्मा की खेती भी करनी होती है।
और, आत्मा में फूलों को जगाने के लिए पर्वतों पर जाना आवश्यक नहीं है।
वे तो जहां आप हैं, वहीं उगाये जा सकते हैं। क्योंकि जहां आप हैं, वहीं रहते हुए भी आप पर्वतों पर हो सकते हैं। स्वयं के आंतरिक एकांत में ही पर्वत हैं और अरण्य हैं।
यह सत्य है कि पूर्ण एकांत में ही सत्य और सौंदर्य के दर्शन होते हैं।
और जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह उन्हें मिलता है, जो अकेले होने का साहस रखते हैं। जीवन के निगूढ़ रहस्य एकांत में ही अपने द्वार खोलते हैं। और आत्मा प्रकाश को और प्रेम को उपलब्ध होती है। और जब सब शांत और एकांत होता है, तभी वे बीज अंकुर बनते हैं, जो हमारे समस्त आनंद को अपने में छिपाये हमारे व्यक्तित्व की भूमि में दबे पड़े हैं। वह वृद्धि, जो भीतर से बाहर की ओर होती है, एकांत में ही होती है। और स्मरण रहे कि सत्य-वृद्धि भीतर से बाहर की ओर होती है। झूठे फूल ऊपर से थोपे जा सकते हैं, पर असली फूल तो भीतर तो भीतर से ही आते हैं।
इस आंतरिक वृद्धि के लिए पर्वत और अरण्य में जाना आवश्यक नहीं है, पर पर्वत और अरण्य में होना अवश्य आवश्यक है। वहां होने का मार्ग प्रत्येक के ही भीतर है। दिन और रात्रि की व्यस्त दौड़ में थोड़े क्षण निकालें और अपने स्थान और समय को, और उससे उत्पन्न अपने तथाकथित व्यक्तित्व और ‘मैं’ को भूल जाएं। चित्त को उस सबसे खाली कर लें, जो उसे सतत भरे रहता है। जो भी चित्त में आये, उसे जानें कि यह मैं नहीं हूं, और उसे बाहर फेंक दें। सब छोड़ दें- प्रत्येक चीज, अपना नाम, अपना देश, अपना परिवार- सब स्मृति से मिट जाने दें और कोरे कागज की तरह हो रहें। यही मार्ग आंतरिक एकांत और निर्जन का मार्ग है। इससे ही अंततः आंतरिक संन्यास भी फलित होता है।
चित्त जब सब पकड़ छोड़ देता है- सब नाम-रूप के बंधन को तोड़ देता है, तब वही आपमें शेष रह जाता है, जो आपका वास्तविक होना है। उस क्षण आप अकेले हो और एकांत में हो। उस समय जो जाना जाता है, वह इस लोक और जगत का नहीं है। उस ज्ञान में ही धर्म के फूल लगते हैं और जीवन परमात्मा की सुवास से भरता है। इन थोड़े से क्षणों में जो जाना जाता है- जो शांति और सौंदर्य और जो सत्य- वह आपको एक ही साथ दो तलों पर जीने की शक्ति दे देता है। फिर आप जगत में होते हो, लेकिन जगत के नहीं होते हो। फिर कुछ बांधता नहीं है और जीवन मुक्त हो जाता है। जल में होकर भी फिर जल छूता नहीं है। इस अनुभूति में ही जीवन की सिद्धि है और धर्म उपलब्धि है।

120/ सत्य एक है

सत्य के मार्ग पर वह व्यक्ति है, जिसने सारे मतों को तिलांजलि दे दी है। जिसका कोई पक्ष है और कोई मत है, सत्य उसका नहीं हो सकता। सब पक्ष मनुष्य-मन से निर्मित हैं। सत्य का कोई पक्ष नहीं है और इसलिए जो निष्पक्ष होता है, पक्ष-शून्य होता है, वह सत्य का हो जाता है और सत्य उसका हो जाता है।

इसलिए किसी पक्ष को न चाहो, किसी संप्रदाय को न चाहो, किसी ‘दर्शन’ को न चाहो। चित्त को उस स्थिति में ले चलो, जहां सब पक्ष अनुपस्थित हैं। उसी बिंदु पर विचार मिटता और दर्शन प्रारंभ होता है। आंखें जब पक्ष-मुक्त होती हैं, तो वे ‘जो है’ उसे देखने में समर्थ हो पाती हैं।
वास्तविक धार्मिक व्यक्ति वही है, जिसने सब धर्म छोड़ दिये हैं, जिसका अपना कोई धर्म नहीं है। और इस भांति धर्मो को छोड़कर वह ‘धर्म’ का हो जाता है।
मुझसे लोग पूछते हैं कि मैं किस धर्म का हूं? में कहता हूं कि मैं धर्म
का तो हूं, पर किसी ‘धर्म’ का नहीं हूं। धर्म भी अनेक हो सकते हैं, यह मेरी अनुभूति में नहीं आता है! विचार भेद पैदा करते हैं, पर विचार से तो कोई धर्म में नहीं पहुंचता है। धर्म में पहुंचना तो निर्विचार से होता है और निर्विचार में तो कोई भेद नहीं है।
समाधि एक है और समाधि में जो सत्य ज्ञान होता है, वह भी एक ही है। सत्य
एक है, पर मत अनेक हैं। मतों की अनेकता में जो एक को चुनता है, वह सत्य के आने के लिए अपने ही हाथों द्वार बंद कर देता है। मतों को मुक्त करो और मतों से मुक्त हो जाओ और सत्य के लिए द्वार दोः यही मेरी शिक्षा है।
समुद्र के नमक का स्वाद पूरब और पश्चिम में एक है; और जल के वाष्पीभूत होने के नियम भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न- भिन्न नहीं हैं; और जन्म और मृत्यु की श्रृंखला मेरे लिए अलग और आप के लिए अलग नहीं है; फिर अंतस-सत्ता कैसे अनेक नियमों और सत्यों से परिचालित हो सकती है!
आत्मा में कोई भूगोल नहीं है और न दिशाओं के कोई भेद हैं और न कोई सीमाएं हैं। भेद मात्र मन के हैं। और जो मन के भेदों में विभाजित है, वह आत्मा के अभेद को उपलब्ध नहीं हो सकता है।
मैं सुबह घूमकर लौट रहा था तो एक पक्षी को पिंजड़े में बंद देखा। उसे देख मुझे पक्षों में बंद लोगों की याद आयी। पक्ष भी पिंजड़े हैं- बहुत सूक्ष्म, अपने ही हाथों से निर्मित। उन्हें कोई और नहीं, हम स्वयं ही बना लेते हैं। वे अपने ही हाथों से बनाये गये कारागृह हैं। हम स्वयं उन्हें बनाते हैं और फिर उनमें बंद हो कर सत्य के मुक्त आकाश में उड़ने की सारी क्षमता खो देते हैं।
और, अभी मैं देख रहा हूं आकाश में उड़ती एक चील को। उसकी उड़ान में कितनी स्वतंत्रता है, कितनी मुक्ति है! एक पिंजड़े में बंद पक्षी है ओर एक मुक्त आकाश में उड़न लेता! और दोनों क्या हमारे चित्त की दो स्थितियों के प्रतीक नहीं हैं?
आकाश में उड़ता हुआ पक्षी न कोई पदचिह्न छोड़ता है, और न उड़ान का कोई मार्ग ही उसके पीछे बनता है। सत्य का भी ऐसा ही एक आकाश है। जो मुक्त होते हैं, वे उसमें उड़ान लेते हैं, पर उनके पीछे कोई पदचिह्न नहीं बनते हैं और न कोई मार्ग ही निर्मित होते हैं।
इसलिए स्मरण रहे कि सत्य के लिए बंधे-बंधाये मार्गों की तलाश व्यर्थ है। ऐसा कोई मार्ग नहीं है। और यह शुभ ही है, क्योंकि बंधे मार्ग किसी बंधन तक ही पहुंचा सकते थे, वे मुक्त कैसे कर सकते हैं! सत्य के लिए प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं ही बनाना होता है। और यह कितना सुंदर है। जीवन पटरियों पर चलती हुई गाड़ियों की तरह नहीं है, सुंदर पर्वतों से सागर की ओर दौड़ती हुई सरिताओं की भांति है।